

युग निर्माण विद्या परिषद्

(पत्राचार पाठ्यक्रम)

युग निर्माण योजना, मथुरा

द्वारा संचालित

जीवन जीने की कला

भाग-२

१. अंतःकरण का विकास
२. सारा जीवन ही साधना बने
३. अहंकार में घाटा ही घाटा
४. आलस्य-प्रमाद को जीतें, हर क्षेत्र में सफल बनें
५. सादा जीवन उच्च विचार
६. सफल और संतुष्ट जीवन
७. द्वेष-दुर्भाव से कोई लाभ नहीं
८. हैंसिए और जीवन को मधुमय बनाइए

गिरे हुआों को उठाना, पिछड़े हुआों को आगे बढ़ाना, भूले को राह बताना और जो अशांत हो रहा है उसे शांतिदायक स्थान पर पहुँचा देना, यह वस्तुतः ईश्वर की सेवा ही है । जब हम दुःखी और दरिद्री को देखकर व्यथित होते हैं और मलीनता को स्वच्छता में बदलने के लिए बढ़ते हैं, तो समझना चाहिए कि यह कृत्य ईश्वर के लिए, उसकी प्रसन्नता के लिए ही किए जा रहे हैं ।

-पं० श्रीराम शर्मा आचार्य

व्यक्तित्व की उत्कृष्टता अंतराल के स्तर पर निर्भर :

आत्म-निरीक्षण एवं स्वमूल्यांकन आत्मविकास के लिए बहुत उपयोगी होता है। यह विकास धीमी गति से किंतु स्थाई होता है। आत्म-विकास वस्तुतः व्यक्ति के अंतःकरण का विकास ही है। मनःशास्त्री अब इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि व्यक्तित्व की उत्कृष्टता-निकृष्टता का केंद्र बिंदु उसके अंतराल का स्तर ही है। मनःसंस्थान की इस सबसे गहरी-अंतिम परत को सुपर चेतन कहा गया है। सुपर इसलिए कि उसकी मूल प्रवृत्ति मात्र उत्कृष्टता से ही भरपूर है। उसे यदि अपने वास्तविक स्वरूप में रहने दिया जाए, अवांछनीयताओं के घेरे में जकड़ा न जाए तो वहाँ से अनायास ही ऊँचे उठने, ऊँचे बढ़ने की ऐसी प्रेरणाएँ उठेंगी जिन्हें आदर्शवादी या उच्चस्तरीय ही देखा जा सकेगा। प्रकारांतर से सुपर चेतन को ईश्वर के समतुल्य ही माना जा सकता है। वेदांत दर्शन में अयमात्मा ब्रह्म-प्रज्ञानं ब्रह्म-चिदानंदोहम्-शिवोहम्-तत्त्वमसि-आदि सूत्रों में जिस आत्मा को परमतत्त्व परमात्मा माना है, वह परिष्कृत अंतःकरण ही है। उसी को विज्ञान की भाषा में सुपर चेतन कहते हैं। इसी परत को विकसित करने के लिए भक्ति योग का आश्रय लिया जाता है। कर्मयोग में शरीर, ज्ञानयोग में मस्तिष्क और भक्तियोग में अंतःकरण की साधना की जाती है। अंतःकरण को ब्रह्मा, मनःसंस्थान को विष्णु और काय कलेवर को रुद्र की उपमा दी गई है। यही तीनों त्रिदेव हैं, जिनके वरदान-अभिशाप पर सारी संभावनाएँ अवलंबित हैं।

मनोवैज्ञानिकों के प्रयास :

मनोविज्ञानी मनःसंस्थान को अत्यधिक महत्व देते और उसे अचेतन से भी कहीं अधिक उच्चस्तरीय मानते हैं। कार्य-कौशल से लोक व्यवहार बनता है। बुद्धि वैभव उपयुक्त निर्णय होते हैं, किंतु अंतःकरण तो समूचे व्यक्तित्व की ही अधिष्ठाता है। उसकी परिष्कृत स्थिति ही सामान्य स्थिति के मनुष्य को महामानव, ऋषि, देवात्मा, देवदूत स्तर तक पहुँचाने में समर्थ होती है। अपने ही भीतर विद्यमान इस देवलोक का माहात्म्य अध्यात्मवेत्ता सदा से ही बताते और उसकी अनुकंपा उपलब्ध करके जीवन लाभ लेने वाले विभिन्न प्रतिपादनों द्वारा समझाते रहे हैं। सिद्धांत और प्रयोग दोनों ही इन प्रयोजनों के लिए उनसे गढ़े-परखे और प्रचलित किए हैं। मनोविज्ञानी, नीति शास्त्री, तत्व-विज्ञानी, समाजशास्त्री, भौतिकवादी सभी इस मिले-जुले निष्कर्ष पर पहुँच गए हैं कि पतन पराभव से छूटने और वरिष्ठता, उत्कृष्ट उपलब्धि करने के लिए, 'सुपर चेतन' की उच्चस्तरीय परखोजी, कुरेदी जानी चाहिए। मूर्धन्य स्तर के मनीषी इस बात पर जोर दे रहे हैं कि अचेतन में असंख्य गुनी उच्चस्तरीय संभावनाओं से भरे पूरे सुपर चेतन को नए सिरे से समझ खोजा और उसके अम्युदय का अभिनव प्रयास किया जाए। वे मानने लगे हैं कि उस क्षेत्र की उपलब्धियाँ व्यक्ति और समाज में उच्चस्तरीय परंपराओं का समावेश कर नए युग का नया सूत्रपात कर सकने में समर्थ हो सकती हैं। 'एमिग मारकाल्ट' ने अपनी पुस्तक "साइकोलाजी ऑफ इन्ट्यूशन" अंतःकरण की चर्चा करते हुए कहा है—"यह शरीर और व्यक्तित्व की चेतना का अति सूक्ष्म एवं उच्चस्तरीय" भाग है ज्ञानेंद्रियों और तर्कबुद्धि से जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं उनसे भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण समाधान उच्चचेतन मन तक

सहायता से मिल सकता है । इस तंत्र को उजागर कर लेने का अर्थ है एक ऐसे देवता का साथ पा लेना जो उपयोगी सलाह ही नहीं देता, वरन् महत्वपूर्ण सहायता भी करता है ।”

उच्चचेतन का महत्कार्य :

‘हम्फ्री’ अपनी पुस्तक ‘वेस्टर्न एप्रोच टु मैन’ में कहते हैं कि बुद्धि वैभव के माध्यम से अब तक संसार की जो सेवा हुई है उसकी तुलना में उच्चचेतन की सहायता से थोड़े से लोगों ने जो कार्य किया है, उसकी तुलना नहीं हो सकती । एक महामानव हजार प्रवक्ताओं से बढ़कर होता है । इसी प्रकार एक महा मनस्वी के द्वारा बनाया गया वातावरण हजारों अधिकारियों तथा अध्यापकों की तुलना में अधिक प्रभावोत्पादक सिद्ध होता है । मनीषियों का कर्तव्य है कि जिस प्रकार प्रकृति के रहस्यों की खोज कर सुविधा संपन्नता में वृद्धि की गई है, उसी प्रकार वे अंतराल की उत्कृष्टता को खोजने, बढ़ाने तथा लाभान्वित होने के लिए जन-साधारण का पथ-प्रशस्त करें । ‘जुंग’ कहते हैं कि मात्र अचेतन ही सब कुछ नहीं है वरन् इससे भी आगे की परत “उच्च चेतन” का भी अलग अस्तित्व है । आदर्शवादी प्रेरणाएँ एवं उमंगें वहीं से उठती हैं । अचेतन तो अभ्यस्त आदतों का संग्रह-समुच्चय भर है । वे बुद्धि एवं साहसिकता से भी अग्रणी संकल्प शक्ति का गुणगान करते हैं और कहते हैं कि व्यक्तित्व को विनिर्मित करने में मनुष्य के विश्वासों का ही प्रमुख योगदान रहता है । ‘एडलर’ के मतानुसार—“अचेतन की सुदृढ़ता देखते हुए उसके सुधार संदर्भ में किसी को निराश नहीं होना चाहिए । स्वसंचित संकल्प, आत्म-विश्वास और आदर्शों के प्रति आस्थावान बनने से उन मूल प्रवृत्तियों में परिवर्तन कर सकना संभव है, जिन्हें चिर-संचित, दुराग्रही एवं अपरिवर्तनशील माना जाता है ।”

सुपर माइंड एक प्रकाश स्तंभ :

‘फ्रेडरिक नीत्से’ ने घोषणा की थी कि—“स्वयं से परे हटकर स्वयं को देखना ही वस्तुतः सही ज्ञान की प्राप्ति है ।” क्या यह संभव है ? क्या हम स्वयं को अपने शरीर चिंतन की परिधि से निकाल बाहर कर सकते हैं, जो शांत चुपचाप खड़ा हो, हमारी हर गतिविधि, हमारी हर परिस्थिति का अवलोकन करता रहे । वस्तुतः यह हमारे भीतर है, जिसे हम ‘सुपर माइण्ड’ कहते हैं, जो एक लाइट हाउस की तरह दूर-दूर तक अपनी घुमावदार किरणें (रिवाल्विंग बीम) छोड़ता रहता है । हिमखंडों, तूफानों से जहाजों को बचाता है, पर स्वयं शांत बिना विचलित हुए खड़ा रहता है । दार्शनिक ‘हेनरी बर्सो’ का कथन है—“समय की जटिलताओं को न सुविधा संवर्धन से सुलझाया जाए और न दाँव पेच से । प्रवीण बुद्धि कौशल ही पतन पराभव का निराकरण कर सकेगा । प्रस्तुत जटिलताओं और विभीषिकाओं का समाधान पाने के लिए उस ‘महाप्रज्ञा’ को जगाने की आवश्यकता है जो अंतःकरण की गहराई में बसती है और ईश्वरीय प्रेरणाओं से मनुष्य को अवगत कराती है ।”

‘मार्टिन ट्रिन्बी’ ने लिखा है—“विचार बुद्धि की उपयोगिता कितनी ही क्यों न हो, पर वह रहेगी अपर्याप्त ही । चेतना की पूर्णता का केंद्र मस्तिष्क नहीं अंतःकरण है । अब परमात्मा की खोज और उसको पाने की बारी है । ऐसा संपर्क साधने के लिए एकमात्र स्थान मानवी अंतःकरण है । सहृदयता इसी केंद्र में बसती है ।” ‘हेनरी गाल्डर’ ने अपने ग्रंथ—“एवोल्यूशन एंड मैन्सप्लेस इन नेचर” में लिखा है—“विकास की दिशा में किए जा रहे प्रयास में एक कड़ी और जुड़नी चाहिए कि मनुष्य के हृदय की विशालता एवं गहराई को भी बढ़ाया जाए । वस्तुओं का लाभ जिसे उठाना है उसका अंतःकरण यदि निकृष्टता परायण रहा तो संपदा का दुरुपयोग ही होगा । संपदा कितनी

ही क्यों न बढ़े, पर यह ध्यान रहे कि उपभोक्ता की गरिमा ही साधनों का सत्परिणाम प्रस्तुत कर सकती है ।”

अंतःकरण को टटोलने की आवश्यकता :

‘पियरे टेल चार्डिन’ अपनी पुस्तक ‘दि फिनोमिना ऑफ मैन’ में लिखते हैं—“विग्रहों को सहकार में, खीज को मुस्कान में बदलने का एक ही तरीका है कि मनुष्य के वर्तमान चिंतन और रुझान में भारी परिवर्तन किया जाए । यह महान कार्य सामान्य प्रयासों से संभव नहीं । उसके लिए अंतःकरण को टटोलने और उसमें ईश्वर प्रदत्त महानता को उभारने की आवश्यकता पड़ेगी । परिस्थितियों से जुड़ी हुई विभिन्नता का परिशोधन सहृदयता उगाने एवं जगाने से ही संभव हो सकता है । सभी प्रख्यात भौतिकविद मनीषी इस बात पर जोर देते रहे हैं कि कब सहृदयता उभारने के लिए मानवी अंतःकरण में नई तैयारी के साथ नई कृषि की जानी चाहिए । इस क्षेत्र की उपार्जित फसल से ही मनुष्य की शारीरिक मानसिक और आत्मिक भूख बुझेगी ।” “मैन द अननोन” और “रिफ्लेक्शन ऑफ लाइफ” के नोबुल पुरस्कार प्राप्त लेखक अलेक्सिस कैरेल ने कई स्थानों पर इस एक ही बात को दुहराया है कि प्रकृति दोहन से भी बड़ा क्षेत्र अंतःकरण की गरिमा उभारने का है । उस उपेक्षित क्षेत्र को नए सिरे से समझा एवं समुन्नत बनाया जाना चाहिए ।

आत्मा महात्मा से परमात्मा तक :

असंख्य प्रतिपादनों में से कुछ की झाँकी ऊपर की पंक्तियों में प्रस्तुत करने के उपरांत इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि व्यक्ति एवं समाज को वर्तमान से उबारने और उज्ज्वल भविष्य के निकट पहुँचाने के लिए मानवी अंतःरात्मा को समझा और जगाया जाना उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार सामान्य जीवन में निर्वाह के साधन जुटाना । अंतःकरण को जगाकर महामानव अथवा महात्मा के स्तर से भी ऊँचे

[जीवन जीने की कला भाग-२/७]

उठकर परिवार और समाज में रहते हुए परमात्मा से एकाव होने की स्थिति को प्राप्त किया जा सकता है । महात्मा होने अर्थ है अंतःकरण की विशालता से । महात्मा वह है, जिस सामान्य शरीर में असामान्य आत्मा निवास करता है । काया वेश-भूषा और चित्र-विचित्र आवरणों का धारण होना न महात्मा होने का आधार है और न लक्षण । सामान्य वेश ३ सामान्य रहन-सहन के बीच आत्मा के स्तर तक पहुँचाया ज संभव है और पहुँचाया जाता भी रहा है । मर्यादाओं से अवर रहकर नागरिक कर्तव्यों का पालन करते रहना, उद्धत आचर से बचना, शील और सौजन्य को निवाहना, यह मनुष्यता आवश्यक उत्तरदायित्व है । जिन्होंने अपने भीतर आत्मा समझा है और उसकी गौरव-गरिमा को ध्यान में रखा है, संयम, सदाचार और कर्तव्यनिष्ठा से जुड़ा हुआ शालीन जी जीना ही पड़ेगा ।

महात्मा की गरिमा इससे अगली मंजिल है । महान अर्थ है विशाल, व्यापक । जो आत्मा अपने शारीरिक, मानस और पारिवारिक कर्तव्यों से आगे बढ़कर विश्व मानव उत्तरदायित्वों को वहन करने के लिए अग्रसर होता है, मानव कर्तव्यों से आगे देव कर्तव्यों को वहन करने के लिए तत्पर है, वह महात्मा है । महात्मा अपने लिए नहीं सोचता, विराट् लिए सोचता है, अपने लिए नहीं करता, विराट् के लिए क है, अपने लिए नहीं जीवित रहता, विराट् के लिए जीता है

महात्मा कौन ? :

अपना शरीर हर छिद्र से मलीनता निःसृत करता है, इसलिए कौन उसे घृणास्पद और त्याज्य ठहराता है कि इ गंदगी विद्यमान है । घृणा की आवश्यकता नहीं समझी ज और शरीर को स्वच्छ करने पर ही ध्यान रहता है । अपनी तरह दूसरों की विविध मलीनताओं के रहते जो हेय, घृणास्प

[८/ जीवन जीने की कला भाग-२]

पतित, त्याज्य नहीं ठहराता वरन् अपनी सहज ममता से प्रेरित होकर उसे निर्मल बनाने का श्रम करता है, वह महात्मा है । दिग्भ्रांत जन-समाज के आचरणों के प्रति आक्रोश उत्पन्न किए बिना जो धैर्य और शांतिपूर्वक विग्रह की रोकथाम पर ध्यान देते हैं, उस उदारमना व्यक्ति को महात्मा कहना चाहिए ।

हम अपने और अपने प्रियजनों के दुःखों से दुःखी होते हैं । इस क्षेत्र में सुख, दुःखों से संवर्धन का प्रयत्न करते हैं । हमें अपना सुख, यश, वैभव, उत्कर्ष प्रिय लगता है और जिन्हें अपना समझते हैं, उन्हें भी इसी सुखद स्थिति में रखने के लिए प्रयत्न करते हैं, यह परिधि जब बड़ी हो जाती है और प्यार दुलार का, ममता, आत्मीयता का क्षेत्र बढ़ जाता है, तो वैसी ही अनुभूति हर किसी के साथ जुड़ जाती है । दूसरों का कष्ट अपना कष्ट लगता है । अपने को सुखी बनाने के लिए जिस प्रकार अपना स्वभाव और चिंतन सक्रिय रहता है, वैसी सक्रियता यदि जन-साधारण के लिए विकसित हो चले तो समझना चाहिए कि आत्मा ने महात्मा का रूप धारण कर लिया । परायों में जब अपनापन प्रतिभासित होने लगे तो समझना चाहिए कि आत्मा ने महात्मा का रूप धारण कर लिया । परायों में जब अपनापन प्रतिभासित होने लगे तो समझना चाहिए कि दिव्य नेत्र खुल गए । जिसकी अहंता ग्रीष्म की हिम बनकर पिघल जाए, जो पवन जैसा सक्रिय और आकाश जैसा शांत दिखाई पड़े, समझना चाहिए कि यह महात्मा का रूप है ।

जब तक स्व एवं पर का ऊहा-पोह चलता रहता है, तब तक आत्मा और महात्मा का प्रेम-प्रसंग आदान-प्रदान, परिहास-मनुहार चल रहा समझना चाहिए । जब द्वैत की समाप्ति हो जाए और केवल एक ही शेष रहे, स्व और पर का अंतर सोचने की गुंजायश ही न रहे, तब समझना चाहिए, उसी काय-कलेवर में परमात्मा का अवतार हो गया ।

[जीवन जीने की कला भाग-२/९]

क्या किया जाए ? :

इस यूनिट में आपने अनेक मनोवैज्ञानिकों के संदर्भ पढ़े नीरस भी लगे होंगे, पर मनःसंस्थान की विभिन्न परतों के संबंध में किए गए अध्ययन अनुसंधानों की जानकारी देने के लिए यह सब आवश्यक था। आपने कभी-कभी अनुभव किया होगा कि जब आपने अध्यापक के रूप में किसी बालक को आवश्यकता से अधिक दंड दिया होगा, किसी मृतक की, विपन्न की पेंशन स्वीकृत करने के लिए लिपिक के रूप में भारी रिश्वत ली होगी अथवा व्यापारी के रूप में सीमेंट में काली मिट्टी पीस कर मिलवाई होगी, तो एकांत में आपके अंतःकरण ने आपको अवश्य भीतर ही भीतर कचोटा होगा। ऐसी स्थिति यदि कभी उत्पन्न हो तो आप उसकी अनसुनी न कर दें। उसे ईश्वरीय परामर्श मानते हुए मन ही मन गलती के लिए क्षमा माँगें और भविष्य में ऐसा पाप-अपराध पुनः न करने का संकल्प लें। अंतःकरण की बात को महत्व देना, उसे समझ पाना ही उसे जगाना है। हमारा अंतःकरण जागता रहेगा, तो हमारी कमियाँ दूर हो जाएँगी और हमारा भावनात्मक, वैचारिक एवं व्यावहारिक स्तर ऊँचा उठता चला जाएगा। आप अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए भी उन विशेषताओं से संपन्न हो जाएँगे जो किसी महामानव अथवा महात्मा में ढूँढ़ने से मिलती हैं।

**बदला लेने का विचार छोड़कर क्षमा
करना अंधकार से प्रकाश में आना है और
जीते जी नरक की जगह स्वर्ग-सुख
भोगना है।**

साधना का परंपरागत अर्थ :

अंतःकरण का विकास ही व्यक्तित्व का समग्र विकास है । इस सतत् प्रक्रिया से मानव से महामानव, नर से नारायण बना जा सकता है । वस्तुतः जीवन को एक साधना मान कर चला जाए, तभी यह सब संभव हो सकता है । रूढ़ अर्थ में साधना एक धार्मिक, आध्यात्मिक प्रक्रिया है, जिसकी धर्म-संप्रदायों में अलग-अलग मान्यताएँ हैं । हिंदू धर्म में यम, नियम, आसन और प्राणायाम को बहिरंग तथा प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि को अंतरंग साधना सोपान के रूप में स्वीकार किया गया है । जैनागमों में अनशन, अनोदारता (आहार संबंधी नियम) भिक्षा-चर्या, वृत्ति-संकोच, रस-परित्याग, काय-क्लेश और निर्विकारिता को बहिरंग साधना की तथा प्रायश्चित्त, विनय, सेवा-परिचर्या, स्वाध्याय, ध्यान एवं कायोत्सर्ग को अंतरंग साधना अर्थात् तप की संज्ञा दी गई है । बौद्ध धर्म में स्वपीड़न और परपीड़न विरहित तप को श्रेष्ठ माना गया है । परंतु साधना या तप कोई जड़ प्रक्रिया नहीं है, जिसको नियमोपनियमों के शिकंजों में कस दिया जाए । वह एक गत्यात्मक प्रक्रिया है, जिसका अनुगमन बदलती हुई जीवन-परिस्थितियों के साथ व्यावहारिक धरातल पर होना आवश्यक है ।

साधना केवल धार्मिक कर्मकांड, सापेक्ष क्रिया मात्र नहीं है । उसको यह रूप देकर धर्माचार्यों ने मानवमात्र को एक संकुचित दायरे में बंद कर दिया है । गृहत्यागी, विरक्त और संन्यासी, महाप्राण मनीषियों के आचार आदर्श का मान बिंदु ही स्थापित कर सकते हैं, परंतु लोक-धर्म का रूप नहीं ले

[जीवन जीने की कला भाग-२/११]

सकते । आज धर्म के नाम पर नई पीढ़ी नाक-भौं सिकोड़ती है, उसका दोष किस पर है ? जो धर्म या साधनापथ लौकिक जीवन के बदलते आश्रमों के साथ अपने को गत्यात्मक नहीं बनाए रख सकता, उसका स्थान शास्त्रों में सुरक्षित रहने योग्य है, पर जन-पथ पर उसका रथ अग्रसर नहीं हो सकता ।

जन-समाज में अधिकांश संख्या तो गृहस्थों की है और जो नामधारी साधु-संन्यासी हैं, उनमें से भी अधिकांश प्रच्छन्न गृहस्थ ही हैं । फिर यम-नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान-धारणा, समाधि की कठोर प्रक्रिया में से गुजरने की अपेक्षा किससे की जा रही है ?

साधना वेष में नहीं है । साधना कर्मकांडों में भी नहीं है । साधना दिखाने के लिए नहीं की जाती । साधना परंपराओं को चलाने के लिए नहीं की जाती । साधना दुनिया को उपदेश बघारने के लिए भी नहीं की जाती । आज भारत में तथाकथित साधकों की भरमार है फिर भी साधकों और उनके संपर्क में रहने वाले व्यक्ति से ऐसा वातावरण तैयार नहीं हुआ है, जैसा कि एक साधनानिष्ठ व्यक्ति के संपर्क से होना चाहिए ।

साधना का स्वरूप :

साधना वह होती है, जिससे वातावरण आनंद और प्रेममय बन जाता है । साधना जहाँ होती है, वहाँ ईमानदारी और प्रामाणिकता मूर्तिमान हो जाती है । ऐसी साधना कर्मकांडों से नहीं, आंतरिक पवित्रता, विशुद्ध प्रेम-भावना, स्वार्थ-त्याग आदि सदगुणों के पोषण और विकास से होगी । जिस दिन इस सहज प्रक्रिया से सहज जीवन विकसित होगा, उस दिन संसार का दूसरा ही रूप होगा । आवश्यकता है, साधना के नाम पर पलने वाले भ्रमों में न उलझकर व्यक्ति की प्रत्येक प्रवृत्ति को साधनामय बनाएँ, फिर देखें उसका समाज और संसार पर कैसा सुखद

परिणाम होता है ।

साधना का अर्थ है, असंतुलित को संतुलित बनाना, अनगढ़ को सुगढ़ बनाना । डगमगाते, लड़खड़ाते सुविधा के लोभ में सुपथ को छोड़ने को उद्यत जीवन को सँभालने के लिए प्रखर पुरुषार्थ करना ही साधना है । आज किए जाने वाले तथाकथित सभ्यता की होड़ में लगे जीवन को संस्कारवान बनाना साधना है । नश्वर सुख की लालसा में दिग्भ्रमित मानवी श्रम को परमार्थ परायणता से निःसृत आनंद निर्झर की शीतल अनुभूति प्राप्ति की ओर मोड़ देना साधना है । आज अपेक्षा है, उस साधना की, जिसका वर्णन संत कबीरदास के एक पद में किया गया है । “साधो सहज समाधि भली ।” इस पद में कबीर ने नाम “समाधि” का लिया है, पर वह एक संपूर्ण जीवन साधना का दर्शन है । उन्होंने सारा जीवनदर्शन ही क्रांतिकारी ढंग से प्रस्तुत कर दिया है । नित्य-जीवन की सहज क्रियाओं को लेकर महात्मा कबीर ने यह व्यक्त करने का प्रयास किया है कि मनुष्य-जीवन की सही दिशा और सच्ची साधना क्या है ?

लक्ष्य के अनुसार साधना :

“साधना” शब्द अपने आप में कोई अर्थ नहीं रखता । हमने उसमें अपना अर्थ आरोपित कर दिया है, यह अलग बात है, लेकिन शुद्ध रूप में साधना शब्द अर्थ से परे है । अर्थ उसमें तब आता है, जब किसी लक्ष्य, उद्देश्य अथवा क्रिया से जुड़ जाता है । एक आध्यात्मिक संत की क्रिया भी साधना है और विज्ञान के क्षेत्र में अंतरिक्ष यात्री की क्रियाएँ भी साधना है । एक माँ अपने बेटों के लिए, परिवार के लिए रसोई बनाती है, यह भी साधना है । गृहिणी की इस साधना का मूल्य यों तो पता नहीं चलता, लेकिन जब कभी अनसधे हाथों को चौंके-चूल्हे की शरण में जाना पड़ता है, तब पता चलता है कि यह कितनी बड़ी

[जीवन जीने की कला भाग-२/१३]

साधना है । सब प्रकार की कलाओं की सिद्धि के लिए साधना करनी पड़ती है, अर्थात् एकाग्रतापूर्वक अभ्यास करना पड़ता है । परस्पर व्यवहार को सभ्य समाज के अनुकूल बनाने के लिए बचपन से ही संस्कारों द्वारा साधना करनी पड़ती है । प्रेम, उदारता, सेवा-भावना आदि गुणों के लिए भी निरंतर साधना करनी पड़ती है । व्यापार-व्यवसाय में भी सैकड़ों बातें ऐसी हैं जो बिना अभ्यास के और बिना परिश्रम के साध्य नहीं होतीं इसमें भी साधना की आवश्यकता होती है ।

उल्लेखनीय है कि साधना का कोई एक प्रकार या एक नियम नहीं है और वह प्रत्येक व्यक्ति के लिए अलग-अलग भी हो सकता है । गाँधी जी ने कहा था कि मेरा जीवन ही सत्य की साधना में बीत रहा है । वे जीवन भर सत्य के प्रयोग करते रहे । उनकी हर प्रकृति के पीछे सत्य का आग्रह रहा करता था । महात्मा कबीर ने अपने पद में यही बात कही है । उन्होंने जब देखा कि लोग अमुक-अमुक क्रियाओं या परंपराओं को ही धर्म-कार्य और साधना मानते हैं और उतना सा करके समझते हैं कि वे साधक बन गए, तो उन्होंने मशाल हाथ में लेकर साधना मार्ग को प्रकाशित किया । लोगों की आँखें खोलने का प्रयास किया कि हमारी वे सारी क्रियाएँ, धर्म-क्रियाएँ, साधनाएँ हैं, जो हम सबेरे उठने से लेकर रात को सोने तक और निद्रा में भी करते हैं ।

साधना को सिद्धि का रूप तभी प्राप्त होता है, जब वह सहज हो जाती है । कबीर कहते हैं—“मेरा चलना ही प्रभु की परिक्रमा है, मेरा कुछ भी करना सेवा ही है, मेरा सोना ही दंडवत है, जो कुछ बोलता हूँ, वही जप है, जो सुनता हूँ, वही प्रभु का सुंदर रूप है ।” कबीरदास के इस पद से एक बात यह भी स्पष्ट होती है कि हमें अपने व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं सामाजिक कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों से कभी विमुख नहीं होना चाहिए और नित्य जीवन की समस्त क्रियाओं

में उसी विराट् विभु की लीला का, विराट् विश्व की सेवा का रस प्राप्त करना चाहिए ।

जीवन साधना का संबल-आचरण :

जीवन की साधना का सबसे बड़ा संबल हमारा कर्मरत और समाजगत आचरण है । समाज से छिटककर विशेष परिवेश की अवधारणा करने से हम अपनी कल्पना की उन्मुक्त उड़ान भले ही भर लें, पर इससे हमारा तथा समाज का कोई वास्तविक लाभ नहीं होगा । बारह वर्ष तक साधना करके कोई व्यक्ति पानी पर चलने का अभ्यास करके चमत्कारी कहला सकता है, पर उसकी सिद्धि का कुल मूल्य रामकृष्ण परमहंस के शब्दों में केवल चार पैसे है, क्योंकि चार पैसे खर्च करके नौका में बैठकर कोई नदी पार कर सकता है । हमारी बहुत सारी साधनाओं के मूल में यही अल्पमोली बातें हैं, जिनसे हमें मुक्त होना है, अपने को सहज साधक बनाना है ।

आज आवश्यकता है, उस साधना की जो हल की मूठ पकड़े, मशीन का पहिया घुमाते, श्रमिक प्रयोगशाला में प्रयोगरत वैज्ञानिक, व्यापारी, व्यवसायी एवं कलम घिसते कर्मचारी की परस्पर भिन्न परिस्थितियों में अध्यात्म की दीपशिखा प्रज्ज्वलित कर सके । जब कोई कृषक लू, धूप की परवाह किए बिना हल चलाता है, तब वह साधना ही तो करता है । जरूरत तो बस इतनी है कि उसके कर्म को आत्मकेंद्रित न होने देकर लोक-मंगल के पवित्र भाव से संपुष्ट किया जाए, ताकि उसका वही कर्म 'स्व' के साथ 'पर' के लिए होकर उसमें भाव-शुद्धि की भावना भर दे और उसको आध्यात्मिक दीप्ति प्रदान कर दे । मशीन के साथ जूझते पसीने से लथपथ श्रमिक का कर्म किस साधना से कम है ? उसे साधना का पवित्र पद देने के लिए उसके साथ लोकहित का भाव जोड़ दिया जाए, तो वही उसके लिए आध्यात्मिक धर्म बन जाएगा । व्यापारी के धृति-साध्य

[जीवन जीने की कला भाग-२/१५]

कर्म को यदि अनुचित मुनाफा कमाने के दूषण से मुक्त कर दिया जाए तो वही 'स्व' में 'पर' की साधना का पुनीत कर्म बन जाएगा । तात्पर्य यह है कि साधना कोई ऊपर की ओढ़ी जाने वाली, अपने और दूसरों को प्रवंचित करने वाली रामनामी चादर न बने, तो उसकी सहजता जीवन में व्यवहार्य हो सकेगी । यही उसके लिए सच्ची साधना होगी ।

साधना के प्रयोजन :

यह खूब अच्छी तरह समझ लेने की बात है कि साधना का पारंपरिक रूप आधुनिक जीवन के संदर्भ में निरुपयोगी बन गया है । इस पुरानी परिभाषा में आज की पीढ़ी के लिए कोई आकर्षण नहीं है । बीज बोने के लिए खेत को जोतना पड़ता है । दीवार खड़ी करने के लिए पहले नींव खोदी जाती है । साधना के यही दो प्रयोजन हैं, एक संचित कुसंस्कारों का उन्मूलन, दूसरे सत्प्रवृत्तियों की सुदृढ़ संभावना । इसे और सरल भाषा में यूँ कहा जा सकता है कि अवरोधों को हटाना और सहायक साधनों को बढ़ाना । 'साधना' माली के समान कठोर कर्तव्य जैसी होती है । माली पौधों को खाद, पानी देता है, रखवाली करता है और फलने-फूलने की स्थिति तक पहुँचाने के लिए निरंतर प्रयत्न करता है । इतने पर भी समय-समय पर काँट-छाँट करने में भी चूकता नहीं । यदि वह मोहग्रस्त मनःस्थिति बना ले तो फिर पौधों के नीचे खरपतवार को निराना-उखाड़ना और छितराई हुई टहनियों की काँट-छाँट कर सकना उसके लिए संभव न होगा । यह मोहग्रस्तता उसे माली के पवित्र कर्तव्य से च्युत कर देगी और उसके प्रिय उद्यान का विकास ही रुक जाएगा । साधना कठिन होती है क्योंकि हमें अपनी ही कमियों का अध्ययन करना होता है, फिर उनके उन्मूलन के लिए प्रयास-पुरुषार्थ करना होता है । हम ही कपड़ा, हम ही धोबी और हम ही रंगरेज होते हैं । यह स्थिति साधक के लिए कठोर

होती है। यह कार्य हम अपने नियमित जीवन, व्यवसाय अथवा उद्योगों में कर सकते हैं। आप अध्यापक हैं तो अध्यापन कार्य को तथा विद्यार्थियों को सुसंस्कारित बनाने को अपना धर्म समझिए, उन्हें ईश्वर स्वरूप मान कर उन्हें श्रेष्ठतम रूप प्रदान करने का प्रयास करिए। आज के अनुशासनहीनता भरे वातावरण में भी जो अध्यापक अपने छात्र-छात्राओं को सही जीवन-दिशा देने का प्रयास करते हैं, उनके प्रति समझदार एवं वयस्क होने पर विद्यार्थी सदैव श्रद्धावन्त होते देखे जाते हैं। आप कर्मचारी हैं तो वेतन लेंगे ही, व्यापारी हैं तो लाभ कमाएँगे ही, पर वह लाभ लोभ से इतना ग्रस्त न हो जाए कि आपका व्यापार ही, जो आपका धर्म है, अधर्म बन जाए। ग्राहक व्यापारी का इष्ट है, इष्ट को रुष्ट नहीं किया जाता है। इष्ट एकाग्रता एवं निरहंकारिता की अपेक्षा करता है। आपका आत्मीय विनम्र, सेवाभावनापूर्ण एवं स्नेह-संवेदनासिक्त व्यवहार आपके ग्राहक को गद्गद् कर देगा और वह सदा-सदा के लिए आपको अपना समझने लगेगा। रैदास की सेवा-भावना, कर्तव्यनिष्ठा और मन की एकाग्रता के वशीभूत होकर स्वयं गंगा उनकी कठौती में पहुँची थीं। क्यों ? रैदास ने किसी तीर्थस्थल पर जाकर साधना की थी ? क्या उन्होंने कोई जप-अनुष्ठान किया था अथवा माथे पर लंबा सा तिलक, गले में तुलसी-रुद्राक्ष की मालाएँ और शरीर पर रामनामी चादर सजाई थी ? पशुओं की खाल के जूते गाँठने वाले रैदास ने तो अपने काम को ही धर्म, अपने ग्राहक की संतुष्टि को ही पूजा समझा। जो कुछ किया, यह समझकर किया कि प्रभु का कार्य कर रहे हैं। उन्होंने अपने कार्य के माध्यम से ही जीवन-साधना की थी।

क्या किया जाए ? :

आवश्यकता इस बात की है कि हम सोचें कि हम जो कार्य करते हैं, उसी के द्वारा किस प्रकार जीवन-साधना कर

[जीवन जीने की कला भाग-२/१७]

सकते हैं। दुष्कर्मों के प्रभाव तो केवल सत्कर्मों से कटेंगे। कृपया उन पाखंडियों की बातों में न आइए जो पूजा-पत्नी, गंगा-स्नान अथवा सरल कर्मकांडों की लकीर पीट देने से आपके पापों की निवृत्ति का आश्वासन देते हैं। उनके बहकावे में मत आइए। जितना भारी पाप हो उतना ही वजनदार पुण्य होगा, तभी संतुलन बनेगा। अतः हम जिस पद पर अथवा जिस व्यवसाय में हैं उसी में रहकर अपने स्नेह, सद्भाव से पवित्रतापूर्ण वातावरण उत्पन्न करें। यह एक ऐसा वातावरण होगा जिससे आकृष्ट होकर न केवल व्यक्ति आपके पास आने के लिए उत्सुक होंगे वरन् आपको आत्मोत्थान का अवसर भी मिल सकेगा। इस प्रकार लौकिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही लाभ एक साथ हस्तगत हो सकेंगे।

**आत्मविकास का पौधा सांसारिक
विषय वासना की भूमि पर नहीं उगता,
उसके लिए यत्नपूर्वक तैयार की हुई प्रेम-
वारि से तर समतल भूमि चाहिए ।**

स्व का विकृत बोध अहंकार :

जो व्यक्ति जीवन की साधना सीख लेता है, वही आत्मविकास के उच्चतम सोपान पर चढ़ने में सफल हो पाता है। जो जीवन को साध न पाया उसकी बुद्धि, धन, साधन सब निरर्थक ही रहे। जीवन लक्ष्य की प्राप्ति में अहंकार एक दैत्याकार शत्रु है। यही मन के विकारों को जन्म देता है। यही हमारी प्रगति पथ में पर्वत जैसे विशाल अवरोध खड़े कर देता है, स्व के विकृत बोध को ही अहंकार कहते हैं। वह आत्मतत्त्व से न जुड़कर भौतिक संपदाओं के साथ जुड़ा होता है। दूसरों की तुलना में अपने को विशिष्ट मान बैठने पर अहंता की उत्पत्ति होती है। बलिष्ठता, सुंदरता, संपन्नता, पद, अधिकार आदि उसके कारण हो सकते हैं। कई बार भ्रम भी उसका निमित्त बन जाता है। जाति-पाँति के आधार पर कई अपने को ऊँचा मानते हैं। इस आधार पर दूसरे नीच या हेय प्रतीत होने लगते हैं और अहंकार जड़ जमा लेता है।

दूसरों को हेय मानने की प्रवृत्ति :

अपनी अहंता प्रकारांतर से दूसरों को हेय या हीन मानने लगती है। अपनी मान्यता को दूसरों को गले उतारने के लिए वह अपने साधनों का उद्धृत प्रयोग करती है, ताकि उनकी ओर अन्यान्यों का ध्यान आकर्षित हो। वे उसे देखें, समझें और बड़प्पन स्वीकार करें। इस प्रकार की स्वीकृति तभी बन पड़ती है, जब उसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिले। साधारण स्थिति बनी रहने पर तो ध्यान उस ओर जाता नहीं। इसलिए कुछ न कुछ उद्धृत आचरण अहंकारी को करना पड़ता है, अन्यथा दूसरे क्यों डरें ? क्यों गिड़गिड़ाएँ ? क्यों ललचाएँ ? अहंकार इस हेतु

[जीवन जीने की कला भाग-२/१९]

उद्धत आत्म-प्रदर्शन किए बिना नहीं रहता । कुछ नहीं तो आत्मश्लाघा सहित अपना बखान स्वयं ही करने लगता है । ऐसी घटनाओं का सच्चा-झूठा वर्णन करता है, जिससे उसकी छाप सुनने वालों पर पड़े और समीपवर्ती उसका लोहा मानने के लिए बाधित हों । जिसने उसकी महत्ता स्वीकारने में उपेक्षा दिखाई, उसे अपना शत्रु तक मानने लगता है । इसका बदला वह नीचा दिखाने का अवसर ढूँढ़कर करता है । जो हाँ में हाँ न मिलाए, जी हजुरी न करे, उसके साथ वह ऐसा व्यवहार करता है, ऐसी चाल चलता है, जिससे उसे तिलमिलाने का दंड भुगतना पड़े । अहंकारी के पास स्नेह-सौजन्य नहीं रहता । सज्जनता, विनयशीलता, नम्रता का तो अस्तित्व ही नहीं रहता ।

अहंकार अनर्थ का मूल :

अहंकार का नाश करने में मनुष्य को सर्वप्रथम तत्पर होना चाहिए, क्योंकि यही सारे अनर्थों का मूल है । ध्वंस, दुख और विनाश के ही परिणाम इससे प्राप्त होते हैं । रावण की शक्ति का कुछ ठिकाना न था, कंस का बल और पराक्रम जगत विख्यात है । दुर्योधन, शिशुपाल, नेपोलियन, हिटलर की शक्तियों के आगे संसार झुकता था किंतु उनका अहंकार ही उनको खा गया । मनुष्य को पतन की ओर ले जाने में अहंकार का हाथ रहता है । अभिमानी के प्रति सर्वसाधारण की मान्यता पाखंडी जैसी बन जाती है । उसके साथ सहयोग करना तो दूर, संपर्क करने वालों में से हर एक की इच्छा होती है कि इस बला से जितनी दूर रहा जाए, उतना ही अच्छा । न उसका कोई हितैषी रहता है, न मित्र, न घनिष्ठ । मात्र चापलूस ही उसकी हाँ में हाँ मिलाकर उल्लू बनाते और साथ ही अपना कोई अनुचित स्वार्थ सिद्ध करते रहते हैं । उनकी पटरी ऐसे ही लोगों के साथ बैठती है । बार-बार ठगे जाते हैं । फिर भी अन्यत्र कहीं

सहारा न मिलने के कारण ऐसे ही चाटुकारों के पास जा पहुँचते हैं और प्रकारांतर से उन्हें रिश्वत देते या उनसे ठगे जाते रहते हैं ।

अहंकार एक भ्रांति :

अहंकार एक भ्रांति है, जो आत्मप्रदर्शन के लिए पग-पग पर पाखंड रचने के लिए प्रेरित करती है । जिनमें वस्तुतः कुछ विशेषताएँ होती हैं, जो वास्तव में साधन-संपन्न, गुणवान या वरिष्ठ होते हैं उनमें सज्जनता भी सहज ही साथ रहती है । सज्जनता का पहला लक्षण है, नम्रता, शिष्टता । दूसरा गुण है—हर किसी को यथोचित सम्मान प्रदान करना । जिनमें इनमें से एक भी गुण न हो उनकी गणना दुर्जनों में होती है । मानवी गरिमा की दृष्टि से उसे गया-गुजरा माना जाता है । इस तथ्य से जो अवगत है, उसी को यथार्थवादी या बुद्धिमान कहा जाता है । इसलिए सज्जन अपने में इन तीनों ही विशेषताओं को समुचित मात्रा में अपनाए रहकर अपना दृष्टिकोण और स्वभाव उसी साँचे में ढाल लेते हैं । उन्हें अभिमान, आत्मघात जैसा प्रतीत होता है और उससे बचे रहने का सतर्कतापूर्वक प्रयत्न करते हैं । आत्म-निरीक्षण करते हुए पैनी दृष्टि से यह जाँचते रहते हैं कि कहीं अहंकार ने व्यक्तित्व के किसी पक्ष में डेरा डालना तो आरंभ नहीं कर दिया । यदि किसी मात्रा में ऐसा हो रहा होता है, तो वे उसे हटाने के लिए पूरी शक्ति से उसमें प्रयत्न करते हैं ।

होटलों और क्लबों में ऐसे लोगों की घुसपैठ होती है । दावत देने, सैर सपाटे पर निकलने के पीछे उनकी मंशा यही होती है कि दूसरे लोग समझें कि यह सामान्य नहीं असामान्य स्तर के हैं । फोटो छपाने की ललक ऐसे ही लोगों की होती है । अपनी कृतियों का बढ़ा-चढ़ाकर ढिंढोरा पीटने-पिटवाने के बिना उन्हें चैन नहीं पड़ता । अहंकार का जाल-जंजाल

[जीवन जीने की कला भाग-२/२१]

ऐसा है, जिसमें फँस जाने वाला अपनी वास्तविक शक्तियों का इस प्रकार उद्धत प्रयोग करता है कि निरंतर घाटा बढ़ता ही चले । जो कुछ पास में था, उसका सदुपयोग करके कुछ बना और बढ़ा जा सकता था, वह आत्म-प्रदर्शन के कुचक्र में ही बर्बाद हो जाता है । अहंकारी हर दृष्टि से घाटा ही घाटा उठाता है । जिस प्रकार दर्पण में देखकर चेहरे की गंदगी साफ कर ली जाती है, उसी प्रकार आत्म-निरीक्षण द्वारा अपने चिंतन और व्यवहार का निरीक्षण परीक्षण करके यह देखना चाहिए कि स्वभाव में अहमन्यता के दुर्गुण का समावेश तो नहीं होने लगा, नम्रता, शिष्टता और सज्जनता का स्तर घटने तो नहीं लगा, प्रदर्शन की ललक ने अंतराल में अड़्डा जमाना तो आरंभ नहीं कर दिया । यदि ऐसा हो तो उचित यही है कि समय रहते आत्म-शोधन कर लिया जाए । अहंकार की वृद्धि के साथ मनुष्य का पतन आरंभ हो जाता है और अभिमान की पराकाष्ठा सर्वनाश करके ही छोड़ती है । रावण जब अभिमान से बुरी तरह ग्रस्त हो गया और उसने अमानवीय अमर्यादित कृत्य शुरू कर दिए तो वह अपने कुटुंब के साथ विनाश को प्राप्त हुआ । अभिमानी दक्ष प्रजापति ने महादेव शिवजी के साथ जो उसके दामाद भी थे, विरोध ठान लिया । अभिमान प्रकट करने तथा उन्हें अपमानित करने के लिए विशाल यज्ञ रचा और शिवजी को निमंत्रण नहीं भेजा । सती के पितृ गृह में बिना बुलाए चले जाने पर उनका अपमान किया और सती क्रुद्ध हो, यज्ञाग्नि में जल मरीं । अंत में दक्ष की बुरी दशा हुई । दान का अभिमान करने वाला राजा बलि पतित हुआ । तप के अभिमानी दुर्वासा ने निर्दोष अंबरीष को शाप दे दिया, किंतु उसका मूल्य उन्हें ही चुकाना पड़ा और क्षमा माँगनी पड़ी ।

अहंकार मानसिक असंयम का दुष्परिणाम :

तृष्णा वासना की तरह ही अहंता भी मानसिक असंयम का दुष्परिणाम है । अहंकार के कारण भी अपनी मानसिक शक्तियाँ बर्बाद होती रहती हैं । अपने बारे में औरों की राय जानने की इच्छा, चर्चित होने की आकांक्षा, दूसरों से प्रशंसा सुनने और करवाने की अपेक्षा आदि कितने ही रूपों में अहंता व्यक्ति के मन मस्तिष्क में उठती उमगती रहती है । इस तरह की इच्छा और अपेक्षा के मूल में अहंता ही मूल कारण है । दूसरों से प्रशंसा सुनने या राय जानने का एक ही उद्देश्य है अपने को महत्वपूर्ण अनुभव करना । अपने को महत्वपूर्ण अनुभव करने या अभिव्यक्त करने के लिए मनुष्य का मस्तिष्क ऐसी उधेड़बुन में उलझ जाता है कि फिर वह अपनी सारी विचार-शक्ति को उसी ताने-बाने में उलझा देता है । महत्वाकांक्षा कोई बुरी बात नहीं है, पर जब वह अहंकार का पोषण करने के लिए ही की जाती हो तो मस्तिष्क फिर उसी दिशा में सोचने के लिए अभ्यस्त हो जाता है । उस दशा में रचनात्मक चिंतन की दिशा ही नहीं सूझती । सारी विचारशीलता अहंकार के पोषण में न भी लगे तो भी व्यक्ति अहंता के कारण अपने संबंध में ऐसी मान्यताएँ स्थापित कर लेता है कि उन पर थोड़ी भी प्रतिकूलता सहन नहीं होती । क्रोध, उत्तेजना और आवेश जैसे मनोविकार अहंता के कारण ही उत्पन्न होते हैं । अहंता व्यक्ति को अपने आप में सामान्य और प्रतिष्ठित कर देती है और अन्य लोगों से भी उसी स्तर का व्यवहार करने की अपेक्षा करती है । उदाहरण के लिए कोई व्यक्ति नहीं चाहता कि उसकी बात को न माना जाए या उसकी बात की उपेक्षा की जाए । यों सत्परामर्श सभी मानते हैं, पर अपने परामर्श में कोई त्रुटि हो भी तो अहमन्यता उसमें कोई दोष नहीं देखती और दूसरे व्यक्ति से उसे अक्षरशः स्वीकार कर लेने को आग्रह करती है । परिस्थितिवश

[जीवन जीने की कला भाग-२/२३]

या परामर्श के अव्यावहारिक होने पर जब उसे स्वीकार नहीं किया जाता है, तो परामर्शदाता उसे अपनी मान-प्रतिष्ठा का विषय बना लेता है और क्षुब्ध हो उठता है ।

क्रोध की जननी अहंता :

क्रोध की जननी भी अहंता ही है । किसी ने कोई अपशब्द कह दिए तो जिसे कुछ कहा गया है उसका कुछ बिगड़ता नहीं । बस अपने बड़प्पन को ठेस लगती प्रतीत होती है, यह बात बड़ी गहरी चुभती है कि जैसे उसने अपने प्रति कोई अपराध कर दिया हो । यदि क्षमा की नीति अपनाई जाती और प्रतिपक्षी ने जो कुछ कह दिया है, उसे भुला देने या ध्यान न देने की नीति अपनाई जाती तो मस्तिष्क में होने वाली उथल-पुथल, अहं को चोट पहुँचाने वाली तिलमिलाहट, हृदय में शूल सी चुभने वाली वेदना जैसी दाहक अनुभूतियों से बचा जा सकता था और अपनी मानसिक शक्तियों को उस अग्नि में जलने से बचाया जा सकता था, परंतु अहमन्यता इन सब बातों को कहाँ सोचती है ? उनमें तो आघात का प्रत्याघात, मुँह तोड़ उत्तर देने और रोष व्यक्त करने से लेकर सामने वाले को नष्ट कर देने तक के विचार उठते हैं । संसार में जितने भी उपद्रव होते हैं, व्यक्तिगत लड़ाई-झगड़े होते हैं, मन-मुटाव के कारण होने वाले अपराधों की जड़ में अहंता ही है और उसके कारण मानवीय शक्ति का, व्यक्ति की मानसिक शक्ति का बहुत बड़ा भाग नष्ट हो जाता है ।

साधनापरक नीति अपनाना बुद्धिमानी :

अहंताजन्य होने वाली प्रतिक्रिया और फलस्वरूप अपनी शक्ति के होने वाले अपव्यय को रोकने के लिए सुलझी हुई मान्यताएँ अपने चिंतन में बिठाई जाएँ तथा उसके कारण होने वाली हानियों को अपनी क्षति समझ कर उनसे बचने के लिए उसी स्तर के प्रयास किए जाएँ, जैसे कि लोग व्यापार, व्यवसाय

में संभावित घाटे से बचने के लिए करते हैं, तो समझा जाना चाहिए कि अपनी ही भाँति औरों को भी अपने अस्तित्व का भान है और उन्हें भी उसकी रक्षा का अधिकार है । सामने वाला यदि आवेशवश कोई गलत बात कह भी रहा है तो उसकी उपेक्षा न करने अथवा उसके विधेयात्मक पहलू पर ध्यान देने में जितना हित है उतना उलट कर प्रतिकार करने में नहीं है । उनके प्रतिकार का ढंग समाधान परक होना चाहिए न कि प्रतिशोध से भरा हुआ । जैसे उस व्यक्ति के नाराज होने या खिन्न होने के कारण का पता लगाया जा सकता है, उसके शांत चित्त होने पर उसकी भ्रांतियों का निराकरण किया जा सकता है । इस प्रकार समाधानपरक नीति अपना लेने से अपने व्यक्तित्व की सुंदरता में चार चाँद लग जाते हैं, जब कि उलटकर प्रत्याघात करने में अपना स्तर भी उतना ही गिर जाता है जितना कि सामने वाले का । किसी गाली का जबाब गाली से देने में व्यक्ति को नैतिकता के उसी धरातल पर उतरना पड़ेगा जिस धरातल पर गाली देने वाला खड़ा है । नीचे उतरने में अपनी उच्च नैतिकता को अधोगामी बना लेने में कौन-सा बड़प्पन है ?

हम स्वाभिमानी बनें, अहंकारी नहीं :

आत्मा की शक्ति सामर्थ्य पवित्रता एवं उत्कृष्टता पर विश्वास करना और कोई ऐसा कार्य न करना जिससे अपनी या किसी अन्य की दृष्टि में यह मूल्य घटता हो, स्वाभिमान है । आंतरिक उत्कृष्टता एवं आदर्शवादिता को किसी भी मूल्य पर घटने न देना, भय और प्रलोभन की परवाह किए बिना, कष्ट सहते हुए भी अपनी उच्चस्तरीय गतिविधियों को अक्षुण्ण रखने में संतोष एवं गौरव अनुभव करना यह स्वाभिमान है । हमें ऐसे स्वाभिमान की रक्षा करनी चाहिए । अहंकार वह है, जिसमें अपनी दौलत, अक्ल, पदवी या ख्याति को चोट पहुँचते ही

अपना अपमान अनुभव होता है और इसे अपनी भारी क्षति समझकर व्यक्ति प्रतिशोध के लिए भड़भड़ाकर उठता है। अपनी स्थिति को आकाश जैसा मानना और बढ़ा-चढ़ाकर बताना, हाँ में हाँ करने वालों से प्रसन्न रहना किंतु आलोचना करने वालों से बिगड़ पड़ना, ये अहंकार के चिह्न हैं ।

क्या किया जाए ?

अतः स्वाभिमानी बनिए, अहंकारी नहीं । अहंकार की तुष्टि के लिए धन बर्बाद मत करिए । चापलूसों से बचिए, याद रखिए पीठ पीछे की गई प्रशंसा ही वास्तविक प्रशंसा होती है । मुँह पर जो प्रशंसा करते हैं, वह निश्चय ही कोई स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं । मनुष्य का गौरव मनुष्यता में है, सज्जन व्यक्ति नम्र, विनयशील, सीधे-सरल, सहिष्णु और उदार होते हैं । यह आत्मिक गुणों का अमृत ही आपको इतनी तृप्ति देगा कि फिर बाहरी प्रशंसा की शराब आपको सर्वथा निरर्थक प्रतीत होने लगेगी । दूरदर्शिता इसी में है कि सच्चे मन से यश, पदलोलुपता, अहंता छोड़िए, विनम्रता अपनाइए । दूसरों को आगे रखिए, स्वयं पीछे रहिए । अपना बखान स्वयं न करिए । अपने मुँह मियाँ मिट्टू बनने की अपेक्षा किसी अन्य के द्वारा आपकी पीठ पीछे आपकी प्रशंसा में कहा गया छोटा सा एक वाक्य आपको कहीं अधिक सम्मान, श्रद्धा का पात्र बना देगा ।

आत्म-नियंत्रण ही स्वर्ग का द्वार है । यह प्रकाश तथा शांति की ओर ले जाता है । उसके बिना मनुष्य नरकवासी बना रहता है ।

शरीर और मन दोनों का सहयोग आवश्यक :

अहंकारी बनने के स्थान पर स्वाभिमानी बनना ही उचित है, क्योंकि इससे व्यक्ति का मनोबल दृढ़ होता है, लौकिक एवं आध्यात्मिक उत्थान के मार्ग में बाधा भी उपस्थित नहीं होती है । मनुष्य की समग्र संरचना शरीर और मन के सम्मिश्रण से होती है । इन दोनों का जो जितना सदुपयोग कर सकता है, वह अपने लिए उतनी ही संपदाएँ और सफलताएँ अर्जित करता है, साथ ही अपने समय और जनसमुदाय के लिए भी कहने लायक सुख-सुविधाएँ उत्पन्न करता है, स्वयं प्रगति पथ पर चलता है और अन्य असंख्यों को ऊँचा उठाने, आगे बढ़ाने में असाधारण रूप से सहायक सिद्ध होता है, किंतु जो इन दोनों ईश्वर प्रदत्त विभूतियों को ऐसे ही उपेक्षित पड़ी रहने देता है या उनका दुरुपयोग करता है, वह हानि भी कम नहीं उठाता है । उससे प्रभावित लोग भी कम हानि नहीं उठाते । शरीर की सार्थकता इसमें है कि जितनी उसमें क्षमता है, उसके अनुरूप उससे काम लिया जाए । उसे आलस्य में, अर्ध-मूर्च्छितों की तरह तंद्राग्रस्त स्थिति में न पड़े रहने दिया जाए । इस स्थिति को आलस्य कहते हैं । आलस्य को मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु माना गया है । मन का कर्तव्य और उत्तरदायित्व यह है कि वह शरीर के साथ मिलकर अपने लिए सुनिश्चित कार्य पद्धति निर्धारित करे । फिर जो कुछ भी करना है, उसमें पूरी दिलचस्पी और एकाग्रता के साथ जुट पड़े ।

आलस्य का स्वरूप :

शरीर को श्रम से बचाने का नाम है आलस्य और मन को निर्धारित काम की उपेक्षा करके जहाँ-तहाँ दौड़ाने का नाम है-प्रमाद । जहाँ इन दोनों का संयोग मिल जाए, वहाँ समझना चाहिए कि समय की बर्बादी और काम की असफलता दोनों साथ-साथ चलेंगी और मनुष्य ऐसा कुछ भी न कर सकेगा, जिसे महत्वपूर्ण या सराहनीय कहा जा सके । दुनिया में यदि कोई भयंकर बीमारी है, तो वह है आलस्य । आलस्य समस्त रोगों का राजा है । उसे मौत से भी अधिक भयंकर कह देना कोई अत्युक्ति न होगी । रोग मनुष्य के शरीर को प्रभावित करते हैं । आवश्यक उपचार करने पर कुछ ही समय में ये ठीक हो जाते हैं । मृत्यु भी स्वाभाविक घटना है किंतु आलस्य तो ऐसा भयंकर रोग है जो मनुष्य के तन, मन, धन, श्री, समृद्धि, बुद्धि सबको चौपट कर उसे जड़ता के फौलादी जाल में जकड़ लेता है । यह जीवित होते हुए भी मनुष्य को मृतवत् बना देता है । आलस्य के प्रभाव में पड़ने पर मनुष्य की क्रिया शक्ति कुंठित होने लगती है । शरीर शिथिल हो जाता है । मानव मन की यह विशेषता है कि कुछ न कुछ करते रहने का आदी है । जब क्रिया के माध्यम से उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती, तो वह विचार और बातूनी दुनिया में काम करने लगता है । बड़ी-बड़ी गप्पें हाँकना, निरर्थक बातें करना, ख्याली दुनिया में उड़ना, आलसियों के काम रह जाते हैं । जिस तरह सोते समय मनुष्य स्वप्नों की दुनिया में तरह-तरह के दृश्य देखता है, कभी हँसता है, कभी रोता है, कभी बड़ा धनी बन जाता है, तो कभी गरीब, दीन, भिखारी कभी दुःखी होता है तो कभी सुख के गीत गाता है, इसी तरह आलसी व्यक्ति भी दिवास्वप्न देखने में व्यस्त और थका-थका सा मालूम पड़ता है । यह दिन भर कल्पना के पंख लगाकर उड़ता रहता है । इन कल्पनाओं की दुनिया में उसे

उसी तरह अनुभूतियाँ होती हैं, जैसे बाह्य संसार के रंगमंच पर सक्रिय व्यक्ति को । कल्पना की दुनिया में सुख-दुःख के थपेड़े खाते-खाते आलसी, आंतरिक एवं बाह्य जीवन में खोखला बन जाता है और हाथ पर हाथ धरे बड़ी वेदना, निराशा, काल्पनिक दुःखों की पीड़ा का भारी बोझ उठाए असयम में ही कालकवलित हो जाता है । जीवन भर मरने की दुःखद कल्पना से भयभीत आलसी को मृत्यु के समय भी कुछ कम कष्ट नहीं होता । इतना ही क्यों जीवन में आने वाले दुःख कठिनाइयाँ भी उसकी कल्पना का संयोग पाकर सुरसा की तरह मुँह फाड़कर उसे भयभीत करते रहते हैं । असंतोष, निराशा, घुटन, भय, संदेह, आशंका, चिंताओं से ग्रस्त आलसी का नारकीय जीवन एक अभिशाप ही होता है ।

आलस्य एक मादक खुमारी :

आलस्य का आक्रमण सबसे ज्यादा खतरनाक है । उसे समझना, हल करना आसान बात नहीं है क्योंकि सबसे पहले आलस्य अपने छल फरेब का जाल फैलाकर मनुष्य की समझने-बूझने, समाधान करने की शक्ति को नष्ट करता है । आलस्य, आराम, सुख का लालच देकर मनुष्य में एक मादक खुमारी पैदा करता है, जिससे मनुष्य स्वतः ही इसकी शरण में चला जाता है । फिर यथार्थ की धरती पर कर्तव्य की कठोरता से बचने के लिए यह सरल रास्ता नजर आता है । यही कारण है कि बहुत से मनुष्य आलस्य के शिकार बन जाते हैं । आलस्य के आक्रमण के प्रारंभिक दौर में मनुष्य अपने काम को आगे के लिए टालने का प्रयत्न करता है । अपने कर्तव्य को छोड़ इधर-उधर मन बहलाने अथवा भागने का मार्ग ढूँढ़ने लगता है । इधर-उधर के निरर्थक कामों में मन दौड़ाता है । ऐसी स्थिति में कठोरता से काम लेना चाहिए और अपने सामने जो काम पड़ा है उसी को पूर्ण

[जीवन जीने की कला भाग-२/२९]

करने के लिए जुट जाना चाहिए । मन को जबरन उस ओर लगा देना चाहिए ।

आलस्य के कारण शरीर के समस्त अंग शिथिल हो जाते हैं । हाथ-पैर, दिमाग, पाचन संस्थान, श्वास प्रणाली सभी में विकृति पैदा हो जाती है और बैठे-बैठे शरीर अनेक रोगों का घर बन जाता है । इतना ही नहीं आलसी व्यक्ति दूसरों की सहानुभूति, सहयोग पाने एवं बहाने-बाजी के लिए साधारण रोगों को भी बहुत बढ़ा-चढ़ा कर कहता है । साधारण सी बीमारी भी उसे भयानक लगती है । इस तरह आलसी व्यक्ति जीवित होते हुए भी मृतवत् ही होता है । कर्मवीर के लिए मृत्यु कोई महत्व नहीं रखती । उसके लिए वह एक देह परिवर्तन की शुभ वेला होती है । इसलिए मृत्यु से भयंकर, समस्त रोगों से भी भयानक आलस्य रोग से बचने के लिए प्रत्येक व्यक्ति का सावधान रहना आवश्यक है ।

आलसी परावलंबी :

आलसी व्यक्ति एक परभागभोगी ही होता है । इस धरती पर परिश्रम करके ही अन्न-वस्त्र की व्यवस्था हो सकती है । यदि परमात्मा को मनुष्य की परिश्रमशीलता वांछनीय न होती तो वह मनुष्य का आहार रोटी वृक्षों पर उगाता । बने बनाए वस्त्रों को घास-फूस की तरह पैदा कर देता । मनुष्य को पेट भरने और तन ढकने के लिए भोजन-वस्त्र कड़ी मेहनत करके ही पैदा करना होता है । नियम है कि जब सब खाते-पहनते हैं तो सबको ही मेहनत तथा काम करना चाहिए । इसका कोई अर्थ नहीं कि एक कमाए और दूसरा बैठा-बैठा खाए । कोई काम किए बिना भोजन, वस्त्र का उपयोग करने वाला दूसरे के परिश्रम का चोर कहा गया है । अवश्य ही उसने हराम की तोड़कर संसार के किसी कोने में श्रम करने वाले किसी व्यक्ति का भाग हरण किया है । दूसरे का भाग चुराना नैतिक,

सामाजिक तथा आत्मिक रूप से पाप है और अकर्मण्य आलसी इस पाप को निर्लज्ज होकर करते ही रहते हैं । जो खाली ठाली रहकर निठल्ला बैठा रहता है, उसका शारीरिक ही नहीं मानसिक तथा आध्यात्मिक पतन भी हो जाता है । “खाली आदमी शैतान का साथी” वाली कहावत आलसी पर पूरी तरह चरितार्थ होती है । जो निठल्ला बैठा रहता है, उसे तरह-तरह की खुराफातें सूझती रहती हैं । यह विशेषता परिश्रमशीलता में ही है कि वह मनुष्य के मस्तिष्क में विकारपूर्ण विचार नहीं आने देती । पुरुषार्थी व्यक्ति को इतना समय नहीं रहता कि वह काम से फुरसत पाकर बेकार के ऊहापोह में लगा रहे और अकर्मण्य आलसी के पास इसके सिवाय कोई काम नहीं रहता, फलस्वरूप उसे अनेक प्रकार की ऐसी विकृतियाँ तथा दुर्गुण घेर लेते हैं कि जिससे उसके चरित्र का अधःपतन हो जाता है । लोग इस अभिशाप से दुराचारी तथा अपराधी बन जाया करते हैं । निठल्ले और निष्क्रिय बैठे रहने वाले व्यक्तियों का विचार संतुलन बिगड़ जाता है जिससे उन्हें ऐसी-ऐसी अनेक सनकें सूझा करती हैं जो व्यवहार जगत में पागलपन की संज्ञा पा सकती हैं ।

आलसी व्यक्ति के लिए किसी भी प्रकार की उत्कृष्टता प्राप्त करना कठिन है । कारण वह अपनी शक्तियों को आलस्य की केंचुली में ढके रहता है । उद्योग तथा परिश्रम द्वारा उन्हें विकसित नहीं कर पाता । जब तक उद्योग नहीं, परिश्रम प्रवृत्ति में नहीं, तब तक शक्तियों का विकास नहीं हो सकता । आलस्य और उन्नति साथ-साथ नहीं चल सकते । उद्योगी और परिश्रमी व्यक्ति ही आपको सुखी और समृद्ध दिखाई देंगे । मनुष्य जन्म भले ही निर्धन परिवार में हो, उसके पास जाति श्रेष्ठता या घर की जमीन जायदाद कुछ भी न हो, केवल उद्योग और श्रम की आदतें हों, आलस्य से मुक्त हो, तो वह धन और कीर्ति प्राप्त कर सकता है । कीर्ति और लक्ष्मी, श्रम और उद्योग के अधीन हैं ।

[जीवन जीने की कला भाग-२/३१]

जो आलस्य नामक शिथिल करने वाली और शक्तियों व पंगु बनाने वाली आलसी वृत्ति को छोड़ेगा, वह निश्चय प्रतिष्ठा और कीर्ति प्राप्त करेगा । संसार के इतिहास व उठाकर देख लीजिए, वे जातियाँ नष्ट हो गईं, जो आलसी और विलासी बनीं । जिस जाति और समाज में आलस्य भर जाता है, वह यश, प्रतिष्ठा और नेतृत्व तीनों ही दिशाओं में अवनति के मार्ग पर अग्रसर होता जाता है । इंद्रिय-सुख, विलास और आलस्य उसको जर्जर तथा अशक्त कर देते हैं । आलस्य एक प्रकार की बुरी आदत मात्र है । यदि माता पिता आरंभ से ही बच्चों में अनुशासन रखें और उनका मानसिक व शारीरिक कार्य सतर्कता से कराने की आदत डालें तो आगामी पीढ़ी सुधर सकती है ।

सामाजिक दरिद्रता का कारण आलस्य की महत्ता :

सामाजिक दरिद्रता का एक बड़ा कारण है—आलस्य । यहाँ पिछले दिनों श्रम को, श्रमजीवी को असम्मान की दृष्टि से देखा जाता रहा है । अछूत वे लोग कहलाए गए जो पसीने की रोटी कमाते थे । धोबी, जुलाहे, राज, मेमार आदि चूँकि वे कठोर श्रम करके अपनी रोटी कमाते थे, अस्तु उन्हें अछूत ठहरा दिया गया और जो बैठे-बैठे हराम की कमाई खाते थे स्वयं श्रम करना तो दूर, उल्टे अपनी प्रारंभिक आवश्यकता पूर करने के लिए दूसरे की सहायता पर निर्भर रहते थे, वे बड़े आदमी कहलाए गए । दुकान पर बैठे-बैठे तोंद फुलाने वाले कपड़े पहनने तक के लिए नौकर रखने वाले हाथ पैर न हिलाने वाले लोगों को सौभाग्यशाली माना गया और सम्मानित किया गया । जो जितना कम काम करता है, उसे उतना ही बड़ा आदमी समझा गया और जो जितनी अधिक सेवा करता, उसे उतना ही छोटा आदमी कहा गया । इस दोषपूर्ण दृष्टिकोण का परिणाम यह हुआ कि श्रम से जी चुराने को, मेहनत करने को

दुर्भाग्य समझने की प्रवृत्ति अपने देश में पनपी और हरामखोरी बेहिसाब बढ़ी । आज जो गरीबी चारों ओर मुँह बाए खड़ी है, इसका बड़ा कारण श्रम की उपेक्षा ही है । ढलती आयु के लोग हरामखोरी अपना अधिकार मानते हैं । जैसे ही लड़के थोड़े बड़े हो गए कि पिता अपना कंधा डाल देता है और अपना अधिकार समझता है कि लड़कों के बड़े होते ही काम करने से इंकार कर दे और मटरगश्ती में दिन बिताए । यही बात स्त्रियों में है । सास बन जाने के बाद वे बहुओं पर हुक्म चलाने के बाद पत्ता हिलाने में अपनी बेइज्जती समझती हैं । फल यह होता है कि श्रमशील न होने से शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य सही रहने की संभावना नष्ट होती है । ये श्रम के लाभ जो परिवार एवं समाज को मिलने चाहिए, उसके बाद बंद हो जाते हैं । यह स्थिति बदली जानी चाहिए अन्यथा आलसी और हरामखोर ही बनते रहेंगे और भारी शारीरिक, मानसिक क्षति उठाते रहेंगे । लोहा निकम्मा पड़ा रहे तो उसे जंग खा जाता है । इसके मुकाबले काम करते-करते घिस कर नष्ट होने वाला उस्तरा अधिक दिन जीता है, अधिक चमकता है और अधिक उपयोगी सिद्ध होता है । इस प्रवृत्ति को निरंतर पनपने पर प्रगति की बहुत कुछ संभावना निर्भर है ।

यह आंदोलन हमें व्यायाम के माध्यम से आगे बढ़ाना चाहिए । हर व्यक्ति को व्यायाम की उपयोगिता और आवश्यकता समझनी चाहिए, जो लोग दिमागी श्रम तो करते हैं, पर शारीरिक मेहनत से बचते हैं, उन्हें व्यायाम द्वारा शरीर के प्रत्येक कल-पुर्जे को काम देकर उसे सशक्त बनाना चाहिए । आलस्य व्यक्ति को घुन की तरह खा जाता है । आलसी व्यक्ति का शरीर असंतुलित, मनोबल क्षीण, वाणी प्रभावहीन एवं चेहरा धिनौना हो जाता है । आलसी व्यक्ति की बाहर वाले तो दूर परिवार के सदस्य भी उपेक्षा करने लगते हैं । शरीर चुस्त-दुरुस्त होगा तो

[जीवन जीने की कला भाग-२/३३]

हम सबके स्नेह, सम्मान एवं प्रशंसा के पात्र होंगे । वृद्ध ल आलस्य में अपना समय बर्बाद करते रहते हैं, घर वालों परेशान करते रहते हैं । घर वाले उनकी मृत्यु का इंतजार क हैं । यदि वही वृद्ध प्रातः नित्य-प्रति क्रियाओं से निपट कर व "बहु लाओ, डिब्बा दे दो, मैं दूध ला देता हूँ, लाओ झोला दे मैं सब्जी ले आता हूँ ।" तो महाशय का टहलना भी हो जाए गृह कार्य में सहयोग भी हो जाएगा । सभी उनका आदर सम् करेंगे ।

क्या किया जाए ?

आलस्य आपको अपमान का पात्र बना देता । आल व्यक्ति से लोग उसी प्रकार कतराते हैं जैसे छूत की बीमारी ग्रस्त रोगी से । अतः आप आलस्य को पास फटकने दीजिए । आप थके, माँदे लौटे हैं, आपकी पत्नी आपके रसोई में चाय बना रही है, आप मेहमान की भाँति मेज पर की प्रतीक्षा करने के स्थान पर चाय की प्यालियाँ रसोई में स्वयं ला तो सकते हैं ? आप बूढ़े हैं और दिन में टहलने जा हैं, जाते समय पुत्रवधु से पूछना न भूलें—"बहू ! मैं बाजार रहा हूँ, कुछ मँगाना हो तो बता दो ।" सायंकाल घर के बच्चों को इकट्ठा कर लीजिए, उन्हें कहानी सुनाइए, गिनत पहाड़े याद कराइए, उनके साथ हँसते-हँसाते रहिए । आप समय भी कट जाएगा और आपकी उपयोगिता वृद्धावस्था में सिद्ध होती रहेगी । इस प्रकार की छोटी-छोटी बातें आप आलसी नहीं बनने देगी, साथ ही परिवार का प्यार सम्मान आपको मिलता रहेगा ।

विश्वासी बनिए । बिना विश्वास के काम नहीं चलता, किंतु जिस पर विश्वास करना है, उसे बुद्धि, प्रलोभन, दृढ़ता आदि से खूब परख लो ।

बड़प्पन सबसे बुरा नशा :

यदि आलस्य से स्वयं को बचा लिया, तो परिवार के सदस्यों के स्नेह-सम्मान में हम सराबोर रहेंगे और घर में स्वर्ग जैसा वातावरण उपस्थित हो जाएगा । निर्वाह की दृष्टि से जीवन-क्रम हलका-फुलका होना चाहिए । लिप्सा-लालसाओं से लदी जिंदगी बहुत भारी पड़ती है । महत्वाकांक्षी लोग न चैन से बैठते हैं न दूसरों को बैठने देते हैं । बड़प्पन का नशा, प्रचलित नशों में सबसे बुरा है । कुबेर और इंद्र बनने की ललक में, रावण और हिरण्यकशिपु जैसा वैभव बटोरने की रट लगाते-लगाते कितने चंगेज खाँ और सिकंदर इस दुनिया से हाथ मलते उठ गए, फिर अपने जैसे मक्खी-मच्छरों की क्या स्थिति, जिनके पास न कौशल है, न पराक्रम, न साध । वितृष्णा इतना ही कर सकती है कि चंद दिन तक जीने के लिए मिले हुए सुयोग का अपहरण कर ले । मृग-तृष्णा में भटकने वाले दिवास्वप्न देखते हैं और केवल निराशा, खीझ, थकान भर पल्ले पड़ने से मूर्खता पर सिर धुनते हैं ।

यदि विलास और वैभव ही सब कुछ रहे और अहंता के प्रदर्शन बिना चैन न पड़े तो एक बात और भी समझ लेनी चाहिए कि इस प्रयास में वे सभी संभावनाएँ समाप्त हो जाएँगी जो हर घड़ी प्रसन्नता बनाए रहती हैं और जिनके कारण चेहरे पर मुस्कान और अंतराल में संतोष भरे उल्लास को छलकते देखा जाता है । मानवी गरिमा को अक्षुण्ण और सुविकसित बनाए रखने के लिए कुछ सोचना और बहुत कुछ करना होता है । इस हेतु जिन साधनों की आवश्यकता पड़ती है, उन्हें बड़प्पन का व्यामोह अजगर की तरह निगल जाता है ।

हम सबके स्नेह, सम्मान एवं प्रशंसा के पात्र होंगे । वृद्ध ल आलस्य में अपना समय बर्बाद करते रहते हैं, घर वालों परेशान करते रहते हैं । घर वाले उनकी मृत्यु का इंतजार क हैं । यदि वही वृद्ध प्रातः नित्य-प्रति क्रियाओं से निपट कर व "बहु लाओ, डिब्बा दे दो, मैं दूध ला देता हूँ, लाओ झोला दे मैं सब्जी ले आता हूँ ।" तो महाशय का टहलना भी हो जाए गृह कार्य में सहयोग भी हो जाएगा । सभी उनका आदर सम् करेंगे ।

क्या किया जाए ?

आलस्य आपको अपमान का पात्र बना देता । आल व्यक्ति से लोग उसी प्रकार कतराते हैं जैसे छूत की बीमारी ग्रस्त रोगी से । अतः आप आलस्य को पास फटकने दीजिए । आप थके, माँदे लौटे हैं, आपकी पत्नी आपके रसोई में चाय बना रही है, आप मेहमान की भाँति मेज पर की प्रतीक्षा करने के स्थान पर चाय की प्यालियाँ रसोई में स्वयं ला तो सकते हैं ? आप बूढ़े हैं और दिन में टहलने जा हैं, जाते समय पुत्रवधु से पूछना न भूलें—"बहू ! मैं बाजार रहा हूँ, कुछ मँगाना हो तो बता दो ।" सायंकाल घर के बच्चों को इकट्ठा कर लीजिए, उन्हें कहानी सुनाइए, गिनत पहाड़े याद कराइए, उनके साथ हँसते-हँसाते रहिए । आप समय भी कट जाएगा और आपकी उपयोगिता वृद्धावस्था में सिद्ध होती रहेगी । इस प्रकार की छोटी-छोटी बातें आप आलसी नहीं बनने देगी, साथ ही परिवार का प्यार सम्मान आपको मिलता रहेगा ।

विश्वासी बनिए । बिना विश्वास के काम नहीं चलता, किंतु जिस पर विश्वास करना है, उसे बुद्धि, प्रलोभन, दृढ़ता आदि से खूब परख लो ।

बड़प्पन सबसे बुरा नशा :

यदि आलस्य से स्वयं को बचा लिया, तो परिवार के सदस्यों के स्नेह-सम्मान में हम सराबोर रहेंगे और घर में स्वर्ग जैसा वातावरण उपस्थित हो जाएगा । निर्वाह की दृष्टि से जीवन-क्रम हलका-फुलका होना चाहिए । लिप्सा-लालसाओं से लदी जिंदगी बहुत भारी पड़ती है । महत्त्वाकांक्षी लोग न चैन से बैठते हैं न दूसरों को बैठने देते हैं । बड़प्पन का नशा, प्रचलित नशों में सबसे बुरा है । कुबेर और इंद्र बनने की ललक में, रावण और हिरण्यकशिपु जैसा वैभव बटोरने की रट लगाते-लगाते कितने चंगेज खाँ और सिकंदर इस दुनिया से हाथ मलते उठ गए, फिर अपने जैसे मक्खी-मच्छरों की क्या स्थिति, जिनके पास न कौशल है, न पराक्रम, न साध । वितृष्णा इतना ही कर सकती है कि चंद दिन तक जीने के लिए मिले हुए सुयोग का अपहरण कर ले । मृग-तृष्णा में भटकने वाले दिवास्वप्न देखते हैं और केवल निराशा, खीझ, थकान भर पल्ले पड़ने से मूर्खता पर सिर धुनते हैं ।

यदि विलास और वैभव ही सब कुछ रहे और अहंता के प्रदर्शन बिना चैन न पड़े तो एक बात और भी समझ लेनी चाहिए कि इस प्रयास में वे सभी संभावनाएँ समाप्त हो जाएँगी जो हर घड़ी प्रसन्नता बनाए रहती हैं और जिनके कारण चेहरे पर मुस्कान और अंतराल में संतोष भरे उल्लास को छलकते देखा जाता है । मानवी गरिमा को अक्षुण्ण और सुविकसित बनाए रखने के लिए कुछ सोचना और बहुत कुछ करना होता है । इस हेतु जिन साधनों की आवश्यकता पड़ती है, उन्हें बड़प्पन का व्यामोह अजगर की तरह निगल जाता है ।

औसत भारतीय स्तर का जीवन अपनाएँ :

साथियों को नीचा दिखाकर अपनी गरिमा सिद्ध करने वाले ठाट-बाट तो बना लेते हैं, पर जिस लोक सम्मान की आशा से वह सब किया गया था, वह मिलने की कोई आकृति दीखती नहीं, उलटे ईर्ष्या भड़कती है। भूखों की मंडलियों में बैठकर जब कोई रबड़ी चाटता है, तो सौभाग्यशाली कहल का श्रेय कहाँ बटोर पाता है। उलटे उस पर आक्रोश बरसता है और निष्ठुरता का लांछन लगता है। लगे हाथों कहने वाले भी कहते हैं कि यह अनीति का उपार्जन है अन्यथा ईमानदारी होने पर तो यह हमारे जैसा ही रहता। मनोविज्ञान समझने वाले जानते हैं कि साथियों की तुलना में बहुत अधिक विलास वैभव एकत्रित करना गरिमा अर्जित नहीं कर पाता वरन् ऐसा आक्रोश उत्पन्न करता है जिसकी चपेट में जाने कितने आक्रमण सहन करने का कष्ट उठाना पड़ता है। इसलिए दूरदर्शिता सदा यही कह रही है कि संपन्नता अर्जित करने के लिए अनेक खतरे हैं जबकि सादगी अपनाने से महानता उभरती है और जन-जन का स्नेह सहयोग संभव होता है।

सादा जीवन उच्च विचार का सिद्धांत ऐसा है जिस जीवन की सार्थकता, सफलता जुड़ी हुई है एवं प्रसन्नता समस्त सूत्रों का समावेश है। हलका-फुलका जीवन अथवा सादगी, मितव्ययिता और बिना विलास वैभव का सीधा-सा निर्वाह। इसके लिए औसत भारतीय स्तर का मापदंड मानव चलना होता है अन्यथा यह पता ही न चलेगा कि जिस वैभव का उपभोग चल रहा है वह आवश्यक है या अनावश्यक, उचित या अनुचित। जिसकी अपनी तृष्णा आकाश चूमती हो उस लिए यह अनुमान लगा सकना कठिन है कि औसत मनुष्य किस स्तर का निर्वाह अपनाना पड़ता है। वे सदा धनवान् बनने के सपने देखते हैं और तस्करों, लोलुपों और निष्ठुरों के द्वारा अपनाए जाने जैसे विलास-वैभव को स्वाभाविक मानते हैं।

राह पर चलते तो अनेक हैं । जो चल नहीं पाते वे भी ललक वैसी ही सँजोए रहते हैं । परिणति स्पष्ट है, कदाचित ही कोई अपनी ललक पूरी कर पाते हों । मधुमक्खियों के वैभव को कौन सहन करता है ? छत्ता तोड़ने के लिए बहेलिए ही नहीं गीदड़ और बंदर तक घात लगाए रहते हैं । बढ़ा हुआ वैभव रुदन के अतिरिक्त और कुछ उत्पन्न नहीं कर सकता । उससे दुर्व्यसन और अहंकार समान रूप में बढ़ते हैं । यह दोनों ही ऐसे हैं जो शहतीर में लगे घुन की तरह उसे गुप-चुप खोखला करते और धराशायी करने तक अपने प्रयास में निरत रहते हैं । अधिक जोड़ने की अधिक भोगने की ललक में मनुष्य कुकृत्य तो करते ही हैं उसका खर्च भी सीधे रास्ते नहीं होता, या तो मनुष्य स्वयं उसे दुर्व्यसनों में उड़ाता है या फिर उसे ईर्ष्यालुओं के आक्रमण का शिकार बनना पड़ता है । पारा किसी को पचता नहीं ।

महानता और संपन्नता परस्पर शत्रु :

अनावश्यक वैभव की भी ऐसी ही दुर्गति होती है । यह स्वयं तो हजार छेद बनाकर अपनी बिरादरी वालों से मिलने दौड़ता ही है, साथ ही जहाँ भी भागता है, वहाँ अनेकानेक रिसते हुए घाव छोड़ जाता है । जो जन्म-जन्मांतरों तक दुखते और कसकते हैं । इसलिए आदर्शों की बात सोचने वालों को सर्वप्रथम वैभव विसर्जन की तैयारी करने का परामर्श दिया जाता है अन्यथा लिप्सा बनी रहने पर परमार्थ के नाम पर चित्र-विचित्र विडंबनाएँ रचते रहने के अतिरिक्त और कुछ बन नहीं पड़ेगा । महानता और संपन्नता में एक प्रकार से शत्रुता है, जहाँ एक के पैर जमेंगे वहाँ दूसरे को पलायन करना पड़ेगा । तथ्य की यथार्थता एवं गंभीरता को समझने वाले वाजिश्रवा जैसे सर्वमेध यज्ञ रचाते और अपने शरीर के कपड़े तक उतारकर परमार्थ प्रयोजन के लिए दान करते रहे हैं । ऋषि परंपरा यही है । बुद्ध, गाँधी का ही नहीं, प्रत्येक साधु और ब्राह्मण परंपरा अपनाने वालों को अपना प्रथम प्रयास यहीं से आरंभ करना पड़ा है । विसर्जन समर्पण बन पड़े तो ही यह आशा बँधती है कि महानता के साथ एकत्व-अद्वैत की स्थिति

बन सके । त्याग-वैराग्य की शास्त्रकारों ने श्रेय मार्ग पर चलने व के निमित्त पग-पग पर आवश्यकता बताई है, उसमें यही रहस्य है जब तक तृष्णा से पिंड न छूटेगा तब तक श्रेष्ठता में न मन लगेगा : न तन जुटेगा । लगन कहीं लगी रहे तो फिर लकीर पीटने भर विडंबना ही शेष रह जाती है । उस झुनझुने से अपने आप बहलाया-फुसलाया भर जा सकता है ।

परस्पर घोर मतभेद रखने वाले अध्यात्मवाद उ साम्यवाद को इस केंद्र पर सर्वथा एक मत देखा जा सकता कि व्यक्ति को औसत नागरिक स्तर का निर्वाह क्रम अपनाने लिए बाध्य किया जाए । अध्यात्म क्षेत्र ने इसके लिए पु परमार्थ का, त्याग वैराग्य का, स्वर्ग मुक्ति का दार्शनिक चक्र रचा है । साम्यवाद ने झटके की नीति अपनाई है और आद की भलमनसाहत को अस्वीकार करते हुए गर्दन दबोचकर पास पल्ले है उसे समाज की संपदा मानने के लिए बाध्य कि तरीके अपने-अपने हैं । नींद की गोली खाकर मरा जाए तलवार से गर्दन कटे, मात्र तरीकों में ही भिन्नता है । आदर्श की किसी भी धारा को यह स्वीकार नहीं कि मनुष्य विला संग्रही, अपव्ययी बने, उद्धत विडंबना रचे और मुफ्तखोरों लिए उत्तराधिकार में छोड़ मरे हर दृष्टि से यह अनैतिक है

श्रम द्वारा अर्जित धन ही वाह्य :

कौशल, पराक्रम, श्रम, समय और वैभव यह स विभूतियाँ ईश्वर प्रदत्त हैं । इसी को समाज प्रदत्त भी कहा सकता है । जिसने दिया है उसे कृतज्ञतापूर्वक लौटा देने में भलमनसाहत है । इस प्रवृत्ति को अपनाने में जो दुराचरण प्रवाह प्रचलन को चीरकर अपनी शालीनता का परिचय दे प है, वही सराहा जाता है । पसीने से ही संपदा कमाई जाती या कमाई जानी चाहिए । लॉटरी से लेकर जुए-सट्टे : जमीन में गड़ा, उत्तराधिकार से मिला या उजड़डपन से बट वैभव, औचित्य की मर्यादाओं से हटकर होने के कारण अग्र

एवं अवांछनीय है । वस्तुतः धन मनुष्य के श्रम, समय और कौशल का ही प्रतिफल होना चाहिए । उसके अनुसार न्यूनतम अपने लिए और अधिकतम सत्प्रवृत्ति संवर्द्धन के निमित्त लगना चाहिए । जिस प्रकार संपन्नता उपार्जन के लिए अपना सब कुछ न सही, बहुत कुछ नियोजित करना पड़ता है । ठीक उसी प्रकार महानता अर्जित करने के लिए भी श्रम, समय एवं मनोयोग का बहुत बड़ा भाग नियोजित करना पड़ता है । यदि उन विभूतियों पर पहले से ही लोभ-लिप्सा ने आधिपत्य जमा रखा हो तो फिर महानता अर्जित करने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता पड़ती है वे यदि पास में होंगे ही नहीं तब फिर मनोरथ कैसे पूरे हो सकेंगे ? मात्र कामना, कल्पना करने से, पूजा-पाठ करने से कोई भी श्रेष्ठता का वरण नहीं कर सका है । ईश्वर भक्त भी महामानवों की पंक्ति में बैठ सकने में समर्थ नहीं हुए हैं । उत्कृष्टता तो मूल्य देकर खरीदी जा सकती है । इस खरीद के लिए जो चाहिए उसे संपन्नता की ललक पर अंकुश लगाकर ही बढ़ाया जा सकता है ।

निकृष्टता आकर्षक किंतु कष्टदायक :

चुनाव दो में से एक का करना है । निकृष्ट विचार रखकर धिनौना जीवन जिया जाए, संकीर्ण स्वार्थपरता की सड़ी-गली कीचड़ में, कुलबुलाते-तिलमिलाते कीड़ों जैसा शिशनोदरपरायण बना जाए या फिर उत्कृष्ट स्तर की विचारणा अपनाकर सादगी से सौम्य, सात्त्विक, निष्पृह रहकर महानता को वरण किया जाए । दोनों में मौलिक अंतर एक ही है । निकृष्टता आरंभ में आकर्षक लगती है, किंतु परिणाम की दृष्टि से विघातक विष जैसी कष्टदायक सिद्ध होती है । इसके विपरीत उत्कृष्टता के मार्ग का आरंभ बीज की तरह गलने जैसा होता है किंतु कुछ समय उपरांत अंकुरित होने, लहलहाने एवं फूलने-फलने के अवसर निश्चित रूप में उपलब्ध होने लगते हैं । अदूरदर्शी तात्कालिक आकर्षण के लिए आतुर होते हैं और

आटे के लोभ में गला-फँसाकर बेमौत मरने वाली मछली का उदाहरण बनते हैं । दूसरे वे हैं जो किसान, माली, विद्यार्थी, व्यवसायी की तरह अपनी श्रम-साधना सत्प्रयोजन के लिए लगाते और अंततः बहुमूल्य फसल से अपने कोठे भरते हैं ।
वैयक्तिक आकांक्षाओं को सीमित करें :

सादा जीवन उच्च विचार का राजमार्ग हर किसी के लिए श्रेयस्कर है । उसमें आवश्यकताओं और सुविधाओं का इतना अंकुश लगाना पड़ता है जिसमें शरीर के लिए माँस और औसत नागरिक जितनी व्यवस्था जुट सके । वैयक्तिक आकांक्षाओं को इतना ही स्वल्प एवं सीमित रखना चाहिए ताकि संसार जितने साधन हैं उन्हें मिल बाँटकर खाया जा सके । हर किस्म के हिस्से में गुजारे जितना आ सके । ऊँची दीवार उठाने के लिए कहीं न कहीं गड्ढा करना पड़ता है । अमीर बनने का विलास-वैभव जुटाने में जिस संपदा की आवश्यकता पड़ती है उसका संचय बिना दूसरों का रक्त पीए अपनी कोठी तक तिजोरी की शोभा बढ़ाने के लिए हो ही नहीं सकता । न अधिक उपार्जन करने योग्य हैं, उनके ऊपर एक अतिरिक्त उत्तरदायित्व यह आता है कि सादगी से गुजारा करने के उपरांत जो बचता है, उसे सत्प्रयोजनों के लिए हाथों-हाथ लौटा दें । वरिष्ठता के बदले श्रेय मिलने का सौभाग्य ही प्राप्त है । उपार्जन, अभिवर्द्धन के कौशल, व्यवस्था और सूझबूझ का विशेषता का प्रतिफल इतना ही हो सकता है कि उन्हें सराफ सम्मानित किया और श्रेय दिया जाए । इसके बदले उन अधिक संपदा-सुविधाओं जैसे लाभों की न तो माँग ही कर चाहिए और न वैसा कुछ उन पर लाद कर गरिमा का अपहरण ही होना चाहिए । घर के बड़े या कमाऊ लोग मात्र अधिक श्रम पाकर संतुष्ट हो जाते हैं । व्यक्तिगत उपभोग के लिए अधिक संपत्ति उड़ाते रहने की छूट नहीं माँगते । वे जानते हैं कि संयुक्त परिवार में सभी का समान हक है । कमाऊ हीरे-मोतियों

लदे और बिना कमाऊ चिथड़े लपेट कर घूमें तो यह संयुक्त परिवार कहाँ रहा ? यह समूचा समाज एक परिवार है । उसके वरिष्ठों को कनिष्ठों का अधिक ध्यान रखना चाहिए । अभिभावक स्वयं दूध न पीकर भी बच्चों के लिए पैसे किसी प्रकार जुटाते हैं । मरीज के लिए फलों का प्रबंध किया जाता है । जबकि समर्थ दाल और नमक के सहारे ही रोटी गले उतारते रहते हैं । यदि समर्थ का विशेष अधिकार माना जाए तो फिर असमर्थों का भगवान ही रक्षक है । उस आपाधापी के रहते मनुष्य को समाज की सभ्यता, संस्कृति, नीति, उदारता जैसे आदर्शों की चर्चा करने का हक न रह जाएगा । जिसकी लाठी उसकी भैंस का जंगली कानून यदि मनुष्यों में भी चल गया और सुयोग्यों ने अधिक सुविधा साधन हड़पना प्रारंभ कर दिया तो समझना चाहिए कि मनुष्य ने अपनी नैतिक वरिष्ठता गँवा दी और प्रेत-पिशाच जैसी रीति-नीति अपना ली ।

मितव्ययिता कृपणता नहीं :

सादा जीवन उच्च विचार का सिद्धांत मानवीय जीवन शैली की सही व्याख्या करता है । जिसके विचार श्रेष्ठ हों, जो भावना के क्षेत्र में उत्कृष्टता सँजोए हों उसे अपने ऊपर यह अनुबंध कठोरतापूर्वक लागू करना चाहिए कि दिनचर्या सादगी एवं मितव्ययिता से पूर्ण हो । मितव्ययिता का अर्थ कृपणता बरतना और कुपात्रों के लिए संपदा जमा करते जाना नहीं है वरन् यह है कि औसत नागरिक स्तर शिरोधार्य करते हुए पूरी सामर्थ्य के साथ श्रम किया जाए और जो निर्वाह से अधिक हो उसे हाथों-हाथ सत्प्रयोजनों के लिए लगा दिया जाए ।

क्या किया जाए ?

बड़प्पन के प्रदर्शन से अहंकार की तुष्टि होती है । आपका अहंकार आपके चारों ओर के समाज को ही नहीं भाएगा । परमेश्वर तो अहंकार से दूर रहता ही है । अतः ऐसे बड़प्पन को दूर से ही अलविदा कह दीजिए । जो आपका लोक-परलोक

[जीवन जीने की कला भाग-२/४९]

दोनों का विनाश करता है । अतः आज सर्वप्रथम अपनी तबियत अपने परिवार की समीक्षा कीजिए । इस संबंध में कुछ विचार प्रश्न रूप में दिए जा रहे हैं । इनका उत्तर स्वयं से पूछिए—

१—क्या मेरे पास इतने अधिक कपड़े हैं जिनका उपयोग मैं सप्ताह में एक बार भी नहीं कर पाता हूँ ?

२—क्या मैं सप्ताह में एक बार अपने कपड़े स्वयं धोऊँ और उन पर प्रेस करता हूँ ?

३—मेरे घर में कितने बिजली के पंखे और कूलर हैं ? क्या वे मेरी आवश्यकता से अधिक हैं ?

४—क्या मेरे पास वाशिंग मशीन है ? क्या परिवार उसकी वास्तव में आवश्यकता है ? यदि हाँ तो क्यों ?

५—मेरे परिवार में नाश्ते में क्या खाया जाता है ? क्या उससे सस्ता एवं स्वादिष्ट नाश्ता घर में तैयार हो सकता है ? कारण भी सोचिए ?

६—क्या मेरे परिवार में खाना बनाने, बर्तन माँजने, झाँपौछा लगाने वाले सेवक अथवा सेविकाएँ हैं ? यदि हाँ तो क्या उनकी उपयोगिता मेरे परिवार के लिए है ? कारण सहित विचार करें ?

७—क्या मेरे परिवार में एक से अधिक टेलीविजन हैं ? क्या एक से काम नहीं चलाया जा सकता है ?

८—क्या मेरा ड्राइंग रूम मैंहगे पदों, कालीन, पेंटिंग्स व फर्नीचर से सुसज्जित है ?

आप आत्मसमीक्षा करने के पश्चात् स्वयं समझ जायेंगे कि औसत व्यक्ति के स्तर की दृष्टि से कितनी वस्तुएँ आपके घर में अनावश्यक एवं अधिक हैं ? धीरे-धीरे आप उन्हें कम कर जाइए । अतिरिक्त वस्तुओं को रिप्लेस करने के स्थान पर एक एक करके उनके बिना काम चलाने की आदत डालिए । किन्हीं वस्तु में मोह के प्रतिष्ठात्मक प्रतीक के रूप में मत लीजिए

एक-सी क्षमताएँ-फिर एक सफल

दूसरा असफल क्यों ?

जीवन में कृपण बनकर धन जोड़-जोड़ कर संसार से चले जाने और बाद में संतान को बिना परिश्रम के अर्जित धन संपत्ति के लिए लड़ाने से अच्छा है कि पूर्ण पुरुषार्थ करके कमाए धन में से केवल आवश्यक ही अपने तथा अपने परिवार के लिए लगाएँ और शेष का सत्प्रयोजनों के लिए सदुपयोग करें। परमात्मा ने संसार के अन्य प्राणियों के साथ मनुष्य को भी मुक्तहस्त से जो संपदा वितरित की है, उससे कुछ लोग जीवन काल में संतुष्ट प्रतीत होते हैं किंतु कुछ मनुष्य निरंतर असंतोष की आग में जलते-दहकते रहते हैं। हमेशा उद्विग्न बेचैन बने रहते हैं। एक जैसी क्षमताएँ जन्म से ही प्राप्त करते हुए भी कुछ व्यक्ति जिस भी क्षेत्र में उतरते हैं, सफलताएँ अर्जित करते जाते हैं, किंतु कुछ जीवन पर्यंत, दीन-हीन, गई-गुजरी परिस्थितियों में बने रहते हैं और किसी भी क्षेत्र में सफल नहीं हो पाते हैं। ऐसे लोग परावलंबी बने जीवन को घसीटते और किसी तरह शेष दिन पूरे करते हैं। एक की सफलता और दूसरे की असफलता को देखकर मन में यह प्रश्न सहज ही उठता है कि सफल और असफल होने के मूलभूत कारण कौन-कौन से हैं ? किन विशेषताओं के रहने से कुछ व्यक्ति जिस भी क्षेत्र में उतरते हैं अपने लक्ष्य में सफल हो जाते हैं, जबकि दूसरों के द्वारा उनकी उपेक्षा कर देने से असफलता ही हाथ लगती है। असफल होने पर उद्विग्न होना सामान्य है, किंतु कभी-कभी अनुचित ढंग से सफल होने के पश्चात् भी व्यक्ति उद्विग्न हो जाता है। बाहर तो वह सफलता का दंभ प्रदर्शन करता है, किंतु मन

ही मन वह सफल होने के बावजूद असंतोष अनुभव करता है । अतः आज हमें वह सूत्र समझने हैं जिनका अवलंबन लेने पर मनुष्य सफल और संतुष्ट जीवन जी सकता है ।

सर्वप्रथम लक्ष्य निर्धारित करें :

समाज के अधिकांश व्यक्तियों का जीवनक्रम लक्ष्य विहीन होता है । सफल व्यक्तियों को देखकर उनका मन भी कभी-कभी सौभाग्य प्राप्त करने के लिए ललचाता रहता है । कभी एक दिशा में बढ़ने की सोचते हैं और कभी दूसरी । विद्वान को देखकर विद्वान, कलाकार को देखकर कलाकार बनने की ललक उठती है । कभी धनवान होने की तो कभी बलवान बनने की बात सोचते हैं । अपना कोई सुनिश्चित लक्ष्य निर्धारित नहीं कर पाते हैं । फलतः एक दिशा में क्षमताओं का नियोजन नहीं हो पाता । बिखराव के कारण कोई प्रयोजन पूरा नहीं हो पाता है । असफलता ही हाथ लगती है ।

लक्ष्य प्राप्ति में अभिरुचि जागृत करें :

सफलता का दूसरा सूत्र है अभिरुचि का होना । जो लक्ष्य चुना गया है उसके प्रति उत्साह और उमंग जगाना-मनोयोग लगाना । लक्ष्य के प्रति उत्साह, उमंग न हो, मनोयोग न जुट सके तो सफलता सदा संदिग्ध बनी रहेगी । आधे-अधूरे मन से, बेगार टालने जैसे काम करने पर किसी भी महत्वपूर्ण उपलब्धि की आशा नहीं की जा सकती । मनोविज्ञान का एक सिद्धांत है कि उत्साह और उमंग शक्तियों का स्रोत है । इनके अभाव में मानसिक शक्तियाँ परिपूर्ण होते हुए भी किसी काम में प्रयुक्त नहीं हो पाती ।

उत्साह किसी भी कार्य का प्राण है । अतएव अभिरुचि का अर्थ है कि जो भी लक्ष्य निर्धारित किया गया है, उसमें पूर्ण मनोयोग जुटाया जाए और उत्साह में कमी न आने पाए । प्रायः किसी काम के आरंभ में जितनी अभिरुचि दिखाई पड़ती है उतनी बाद में नहीं रह पाती । फलस्वरूप जितनी तत्परता और तन्मयता लक्ष्य के प्रति सतत् बनी रहनी चाहिए उतनी न होने

से आधी-अधूरी सफलता ही मिल पाती है ।

क्षमताओं का सुनियोजन करें :

सफलता अर्जित करने का तीसरा सूत्र है—अपनी क्षमताओं का सुनियोजन, सदुपयोग । उपलब्ध संपदाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है—समय । शरीर, मन और मस्तिष्क की क्षमता का तथा समय रूपी संपदा का सही उपयोग असामान्य उपलब्धियों का कारण बनता है । निर्धारित लक्ष्य की दिशा में समय के एक-एक क्षण के सदुपयोग से चमत्कारी परिणाम निकलते हैं । शरीर से श्रम करना ही पर्याप्त नहीं है, वरन् मस्तिष्क की क्षमता का उसमें पूर्ण योगदान होना आवश्यक है । मस्तिष्क में असीम संभावनाएँ भरी पड़ी हैं । विचारों की अस्त-व्यस्तता और एक दिशा में सुनियोजन न बन पाने से ही उसकी अधिकांश शक्ति व्यर्थ चली जाती है । शक्तियों के बिखराव से कोई विशिष्ट उपलब्धि हासिल नहीं हो पाती । सूर्य की किरणें बिखरी होने से उनकी शक्ति का पूरा लाभ नहीं मिल पाता । आतिशी शीशे पर केंद्रीभूत होकर वे प्रचंड अग्नि का रूप ले लेती हैं । मस्तिष्क की सामर्थ्य के संदर्भ में भी यही बात लागू होती है ।

सफल और असफल व्यक्तियों की आरंभिक क्षमता, योग्यता और अन्य बाह्य परिस्थितियों की तुलना करने पर कोई विशेष अंतर नहीं दीखता । फिर भी दोनों की स्थिति में जमीन-आसमान का अंतर आ जाता है । इसका एक मात्र कारण है कि एक ने अपनी क्षमताओं को एक सुनिश्चित लक्ष्य की ओर सुनियोजित किया, जबकि दूसरे के जीवन में लक्ष्य विहीनता और अस्त-व्यस्तता बनी रही । दैनिक व्यवहार और लोकाचार में भूलें, त्रुटियाँ और अपराध होने भी संभव हैं । अच्छे-बुरे का विवेक सदैव नहीं रहता । कुछ न कुछ दोष तो सभी में होते हैं । पूर्ण रूप से सद्गुणी और सदाचारी व्यक्ति बहुत ही थोड़े मिलेंगे । अधिकांश व्यक्तियों के स्वभाव में कुछ न कुछ बुराइयाँ जरूर होती हैं ।

अपने दोष साहसपूर्वक स्वीकार करें :

दोष मनुष्य की स्वाभाविक प्रक्रिया है किंतु ९९ प्रतिशत स्थितियों में कोई भी मनुष्य अपने को दोषी नहीं ठहराता, चाहे उससे कितनी ही भारी भूल क्यों न हुई हो ? भूल को स्वीकार कर लेने में हानि कुछ भी नहीं है । व्यक्ति का मन निर्मल हो जाता है और वह आगे जीवन के लिए स्वस्थ चित्त एवं जागरूक हो जाता है, किंतु दोष को जब दोष मानकर स्वीकार नहीं किया जाता तो मनुष्य का दुस्साहस उद्दीप्त होता है और उसे अपराध करने में ही आनंद आने लगता है । छिपाई हुई भूलें भी अनेक दूसरे प्रकार के अनर्थों को जन्म देती हैं । अपने दोषों को छिपाने से मनुष्य की अशांति बढ़ती है किंतु इन दोषों को प्रकट कर दिया जाए तो मस्तिष्क का बहुत-सा बोझ हलका हो जाता है और आत्मविकास का नैतिक पथ प्रशस्त होने लगता है ।

अपने दोष स्वीकार कर लेने का अर्थ है सच्चाई के प्रति प्रेम । अपनी बातों को ठीक मानने का अर्थ तो यही होता है कि दूसरे सब झूठे हैं । इस प्रकार अहंकार, अज्ञान का द्योतक है । इस असहिष्णुता से घृणा और विरोध बढ़ता है, सत्य की प्राप्ति नहीं होती । सत्य की प्राप्ति तभी संभव है जब हम अपनी त्रुटियों, भूलों और कमियों को निष्पक्ष भाव से देखें । मनुष्य का मन ऐसा हो जैसा किसी बाग का रखवाला होता है । माली का काम केवल पौधा लगाना ही नहीं वरन् फूलों के पौधों के आस-पास उगने वाले अनावश्यक झाड़-झंखाड़ को भी उखाड़ कर फेंकना है । गुणों की पौध भी तभी अंकुरित एवं पल्लवित हो सकती है जब मानसिक विद्वेषों को समय-समय पर मस्तिष्क से निकाला जाता रहे । इससे चित्त, मन, स्वास्थ्य प्रसन्न और मस्तिष्क विकासशील बना रहता है ।

परदोष दर्शन से बचें :

अपने दोष व्यक्त करते हुए आंतरिक निष्कपटता पा लेना जितना जरूरी है, उतना ही दोषान्वेषण की प्रवृत्ति के त्याग में भी सावधान रहना चाहिए । मन में भरी हुई बुराइयों की सड़ांध

से कुछ कम घातक प्रभाव परदोष दर्शन का नहीं होता । मन को दोषों में रस नहीं लेने देना चाहिए । फिर वे चाहे अपने हों चाहे पराए । दूसरों में दोष न निकालना, दूसरों को उन दोषों से उतना नहीं बचाता जितना अपने को बचाता है । यदि आप गुणों का चिंतन न करें केवल अवगुणों पर ही दृष्टिपात करें तो अपना प्रत्येक परिजन भी अनेक बुराइयों, दोषों से ही ग्रस्त दिखाई देगा । अतः स्नेह, आत्मीयता, सौजन्यता तथा प्रेमपूर्ण व्यवहार में कमी आएगी, जिससे जीवन के सुखों का अभाव हो जाएगा । अपने बच्चों के छोटे-छोटे दोष भूल जाने की पिता की दृष्टि ही सच्ची होती है । माँ यदि बेटों की गलतियों को खोजा करे तो उसे दंड देने से ही फुर्सत न मिले । दूसरों के अवगुणों को उपेक्षा की दृष्टि से ही देखना उचित है, जबकि स्वयं के संबंध में अत्यंत ही कड़ा रुख होना चाहिए । अपनी बुराइयाँ देखने एवं उनके निराकरण का प्रयास करना नित्य अनिवार्य माना जाए ।

निंदा के प्रति सकारात्मक रुख अपनाएँ :

जीवन में कई बार ऐसी परिस्थितियाँ सामने आती हैं जो असह्य होती हैं और मन को खिन्न, दुःखी तथा उदास बना देती हैं । इसी तरह की परिस्थितियों में एक है—किसी के द्वारा अपनी आलोचना या निंदा किया जाना । सामान्यतः मनुष्य अपने लिए प्रशंसा ही सुनना चाहता है । किसी व्यक्ति में कितने ही दोष—दुर्गुण क्यों न भरे हों, उसे अपनी कमियाँ दिखाई नहीं देती । दिखाई देती भी हैं तो वह उनके लिए अपने स्वभाव को नहीं, परिस्थितियों को ही जिम्मेदार ठहराता है । गलतियाँ होती हैं तो कारण बताया जाता है कि परिस्थितियाँ ही अमुक प्रकार की थी, जिनमें ऐसा होना स्वाभाविक था । गलतियाँ करने और स्वभाव में त्रुटियाँ होने के बावजूद भी मनुष्य उन्हें स्वयं तो नजरअंदाज करता ही है, अपने साथियों, मित्रों—परिचितों और अन्य लोगों से भी यह अपेक्षा करता है कि वह भी उन परिस्थितियों को नजरअंदाज कर दें ।

[जीवन जीने की कला भाग-२/४७]

एक तो मनुष्य को अपनी कमियाँ, त्रुटियाँ कम ही दिखा देती हैं और दूसरे दिखाई भी देती हैं तो वह इतना असहिष्णु अनुदार होता है कि किसी और के द्वारा उनकी ओर इंगित किया जाना सहन नहीं कर पाता । इसे व्यक्ति का अहंकार भी कह सकते हैं कि वह दूसरों को अपने दोषदर्शन का अधिकार देना नहीं चाहता और यदि कोई दोष देखता या बताता है तो केवल दुखी होता है वरन् उनका प्रतिकार करने के लिए भी कटिबद्ध हो जाता है । अपनी निंदा-आलोचना को न सह पाता एक कमजोरी ही कही जाएगी । उसी तरह की कमजोरी बिना व्यक्ति सुखकर अनुकूल परिस्थितियों की कामना करता है और दुःखदायी प्रतिकूल परिस्थितियों से घबराकर दूर भागता है । उसी प्रकार मनुष्य अपनी प्रशंसा सुनना तो पसंद करता है, किंतु निंदा या आलोचना से बचना चाहता है । जबकि निंदा-आलोचना प्रशंसा का ही दूसरा पक्ष है । दोनों एक सिक्के के दो पहलू हैं । जो व्यक्ति जितने प्रशंसित और चर्चित होते हैं, उनकी उतनी ही निंदा-आलोचना भी होती है ।

सचमुच व्यक्ति यदि अपनी निंदा को सकारात्मक भाव से स्वीकार करने लगे तो इसमें हित और उत्कर्ष साधन ही होता है । कई बार यह निंदा अपने प्रकट-अप्रकट दोषों की ओर इंगित करती है तथा उन्हें सुधारने की प्रेरणा देती है तो कई बार जब अतिरंजित ढंग से आलोचना-निंदा की जाती है तो वह उन दोषों की ओर से सतर्क करती है ।

निंदा एवं आलोचना से रुष्ट होने, दुःखी होने या प्रतिकार लेने की भावना रखने की अपेक्षा रचनात्मक उपयोग करने की ही बात सोचनी चाहिए । इसी में भला है और इसी में हित । यदि निंदा-आलोचना को सहज भाव से स्वीकार किया जाए तो मनीषियों का कथन है कि इससे दुर्गुणों का विनाश हो जाता है । निंदा, आलोचना का उपयोग अपने उत्कर्ष एवं आत्मपरिष्कार के लिए भी किया जा सकता है । इसमें कोई संदेह नहीं है । चाहिए वह दृष्टि जो निंदा के प्रकाश में अपने दोष-दुर्गुणों को

खोज सके और चाहिए वह सहिष्णुता जो निंदा-आलोचना सह सके ।

क्या किया जाए ?

हर व्यक्ति जीवन में सफलता पाना चाहता है । आप भी सफल होना चाहेंगे । कृपया इस यूनिट में सुझाए गए छः सूत्रों को अपने जीवन में अपनाएँ, उनका प्रयोग करें । आप देखेंगे कि सफलता के साथ-साथ आपका मुखमंडल आंतरिक संतोष की कांति से चमक रहा होगा । इसके लिए संपूर्ण प्रयास आपको ही करना है । आप कक्षा १२ के विद्यार्थी हैं । आपकी इच्छा इंजीनियर बनने की है । अब सबसे पहले आपको यह सुनिश्चित करना होगा कि आपको किस शाखा को वरीयता देनी है । आपको समाचार पत्रों द्वारा प्रवेश परीक्षा हेतु आवेदन करने की तिथियाँ ज्ञात करनी हैं । आवेदन पत्र प्राप्त करने के साथ-साथ उसे सब प्रकार से पूर्ण करके निर्धारित पते पर, निर्धारित तिथि तक, निर्धारित शुल्क सहित भेज देना है । अब आपको अपनी क्षमताओं का इस प्रकार सुनियोजन करना है जिससे आप कक्षा १२ की परीक्षा की तैयारी भी करते रहें और नियमित रूप से अभियंत्रण प्रवेश परीक्षा हेतु अध्ययन भी जारी रखें । आपकी अभिरुचि इतनी जाग्रत हो और एकाग्रता इतनी सघन हो कि दोनों परीक्षाओं की तैयारी के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में आपका मन ही न लगे । इसी बीच परिवार में कोई आपको टोका-टाकी कर दे तो आप आवेशित न हों, प्रतिक्रिया स्वरूप अन्यो की कमियाँ खोजने के बजाय विचार करें । संभव है, आपकी ही कोई कमी हो । यदि आप में कमी हो, तो उसे साहसपूर्वक स्वीकार करें । हमें विश्वास है कि इस पद्धति से आप सफल भी होंगे और संतुष्ट भी ।

**उद्देश्य रहित जीवन जीना केवल
अपनी लाश ढोने के समान है ।**

द्वेष का स्थायी कुप्रभाव :

एक जैसी क्षमताएँ होते हुए भी एक व्यक्ति असफल अपमान और असंतोष की आग में जलता दिखाई देता है जब दूसरा सफलता पर सफलता अर्जित करते हुए समाज में सिरमौर बन जाता है । निष्कर्ष यह निकला था कि लक्ष्य निर्धारण, लक्ष्य के प्रति अभिरुचि-जागरण, क्षमताओं का सुनियोजन, आत्मस्वीकृति, निंदा-आलोचना की सकारात्मक स्वीकृति आदि गुण जीवन में सफल होने में विशेष सहायक हैं । आए दिन हम समाज में देखते हैं कि जीवन की अनेक कष्टकारक परिस्थितियों में द्वेष के कारण हमें सबसे अधिक त्रास मिलता है । अन्य बुरी परिस्थितियाँ थोड़ी देर ठहरती और अपना कुप्रभाव दिखाकर विदा हो जाती हैं पर द्वेष दुःख देर तक बना रहता है और कई बार तो मन में ऐसी चिन्ता जमाकर बैठ जाता है कि निरंतर काँटे की तरह खटकता रहता है । बैर में एक बुराई है कि उसके कारण प्रतिशोध एवं प्रतिहिंसा की भावना पैदा होती है । जिससे अपना द्वेष है उसे कोई कोई हानि पहुँचाने को जी चाहता है और जी की जलन तब तक शांत नहीं होती जब तक बदला नहीं ले लिया जाता । बदला लेना एक नया कुचक्र शुरू करता है । जिसे त्रास दिया गया है उसके मन में ठीक वैसी ही प्रतिहिंसा उत्पन्न होती है जैसे बदला लेने से पूर्व अपने मन में थी । उसके मन में प्रतिशोध का रोष उमड़ता है और अपने ऊपर चोट करता है । अब यह परिणाम घूमने लगता है, क्रिया की प्रतिक्रिया होती है । दोनों पक्ष एक दूसरे से अपना बदला चुकाने लगते हैं । इस चपेट में दूरे-दूर अनेक निर्दोष लोग भी आते हैं । कभी-कभी इसका संगठित रूप पार्टीबंदी के रूप में उठ खड़ा होता है । हत्या, कत्ल, डकैती, फौजदारी, छुरेबाजी, लूट, अपहरण, चोरी आदि की जिद

घटनाएँ धन के लालच से होती हैं उससे कई गुनी द्वेषजनित शत्रुता के कारण होती हैं।

चिंता, भय, निराशा, शोक, अपमान आदि अनेक कारणों से मनुष्य का मन दुःखी रहता है पर उन सब को मिलाकर भी उतना दुःख मन को नहीं होता जितना द्वेष के कारण होता है। सर्प जैसा तुच्छ कीड़ा क्रोध के वशीभूत होकर इतना उग्र बन जाता है कि छेड़ने वाले की जान लिए बिना संतुष्ट नहीं होता। कई बार तो वह अपने छेड़ने वाले को वर्षों तक याद रखता है और जब भी उसे अवसर मिलता है तभी अपने बैर का प्रतिशोध लेकर जी की जलन मिटाता है। मनुष्य तो अधिक संवेदनशील है। क्रोध उसे पागल ही बना देता है। चाणक्य जैसा विद्वान्, जरा से अपमान से क्रुद्ध होकर इतना असंतुलित हो गया कि उसने नंद वंश का सर्वनाश करके ही चैन लिया। द्रौपदी के जरा से व्यंग्य से क्षुब्ध होकर दुर्योधन इतना क्रूर बन गया कि उसने पांडवों से बदला लेने के लिए महाभारत जैसी विभीषिका को स्वीकार कर लिया। चंबल घाटी के दुर्दांत दस्युओं की समस्या पर विचार कीजिए जिसने लाखों मनुष्यों का नागरिक जीवन अस्त-व्यस्त किया है। वह समस्या डाकुओं के प्रारंभिक जीवन में किसी साधारण बात से उत्पन्न द्वेष और प्रतिशोध से आरंभ हुई और अब तब तक समाज को भारी क्षति पहुँचा रही है।

द्वेष की भयंकरता :

इतिहास पर दृष्टि डालते हैं तो भी भयंकर संघर्षों और आक्रमणों के बीच द्वेष को ही प्रधान कारण पाते हैं। अन्य सभी कारण गौण थे। शांत भाव से जंगलों में जीवन यापन करने वाले पशु जिनके बीच कोई समस्या नहीं है, कभी-कभी क्रोध और द्वेष के वशीभूत होकर ऐसे असंतुलित होकर लड़ पड़ते हैं कि एक दूसरे की जान लेकर ही पीछे हटते हैं।

शरीर और मन की अन्य व्यथाएँ कम समय तक कष्ट देती हैं। बुखार, खाँसी, दस्त, दर्द आदि रोग सदा नहीं रहते। दस-पाँच दिन में वे अपने आप अच्छे हो जाते हैं। न

अच्छे हों तो कोई अच्छा चिकित्सक तेज उपचार करने खड़ा जाए तो वह कष्ट तुरंत या एकाध दिन में ही मिट सकता है चिंताएँ जिस कारण रहती हैं वह कारण दूर होते ही चिंता दूर हो जाती है । उसी प्रकार अन्य मनोव्यथाएँ भी समय-समय पर घटती-मिटती रहती हैं, पर द्वेष का रूप ही कुछ विलक्षण है । वह घृणा, ईर्ष्या, शत्रुता, मनोमालिन्य, प्रतिहिंसा आदि अनेक रूप धारण करके मन में छिपा बैठा रहता है । यही ए योजना वह बनाता रहता है । प्रतिपक्षी को कैसे हानि पहुँचे यह योजना यदि बन भी जाए और कार्य रूप में परिणत भी जाए तो इतनी मँहगी पड़ती है कि उसकी अपनी बहुमूल शक्तियाँ इस निरर्थक काम में बिल्कुल ही व्यर्थ बरबाद हो गई हैं । उसका कुछ भी लाभ अपने को नहीं मिलता वरन् प्रतिक्रिया का शिकार होने पर कभी भारी क्षति उठाने की आशंका भी खड़ी हो जाती है ।

द्वेष आत्मघाती :

आग जहाँ रखी जाती है पहले उसी को जलाती है दूसरी दूर की वस्तु को वह पीछे जलाएगी । पहले तो उसी चीज को ही समाप्त करेगी जिसमें उसे रखा जाएगा । तेजाब जहाँ कहीं गिर पड़ता है, उसी वस्तु को गला देता है । आग और तेजाब की तरह द्वेष की अग्नि जिसके मन में रहती है, उसका मन संस्थान सूझ-बूझ से रहित, असंतुलित और अस्त-व्यस्त बनकर मूर्ख, पागल एवं विक्षिप्त जैसी स्थिति उत्पन्न कर देता है । जरा-जरा सी बात पर लड़ाई, झगड़ा, रूठना, कटुवचन, दुर्व्यवहार, असहयोग, अवज्ञा, उपेक्षा, उपहास, अपमान आदि की चुभने वाली बातें कई बार स्वजन संबंधियों में, परिवार के लोगों में परस्पर चलने लगती हैं, वहाँ साथ-साथ रह सकना कठिन हो जाता है । इन बुरी बातों से बने बनाए परिवार टूट जाते हैं । स्नेह संबंध समाप्त होकर, पराएपन के भाव उत्पन्न होते हैं और अंततः भावनात्मक संबंध का ही विच्छेद हो जाता है, ऊपर से मात्र दिखावे के लिए शिष्टाचार संबंध भले ही ब

रहे । द्वेष के कारण जो क्रोध और प्रतिहिंसा का भाव उत्पन्न होता है, उससे प्रतिपक्षी को जितनी हानि पहुँचती है, उससे अनेकों गुनी हानि अपनी होती है । मनोविज्ञान शास्त्र के ज्ञाता जानते हैं कि द्वेष के दुर्भाव के कारण मनोभूमि में ऐसी ग्रंथियाँ बन जाती हैं जो आगे चलकर अनेक कष्टसाध्य एवं असाध्य रोगों को जन्म देती हैं । उन रोगों की जड़ें इतनी गहरी होती हैं कि दवा-दारु का भी कोई असर उन पर नहीं पड़ता । स्वभाव और गुणों का स्तर गिरता है, जिससे व्यक्ति निम्न श्रेणी के निकृष्ट कोटि के विचार का कार्य करने पर उतारू होता है । जिसका मन द्वेष दुर्भावनाओं से भरा रहता है, उससे ऐसे किसी श्रेष्ठकार्य की आशा नहीं की जा सकती, जो उसकी कीर्ति को बढ़ाए, दूसरों को सुविधा उत्पन्न करे अथवा समाज की प्रगति में योग दे ।

गलतफहमी के फलस्वरूप द्वेष :

वैयक्तिक जीवन में घोर अशांति और समाज में भयंकर विक्षोभ उत्पन्न करने वाले इस दुष्ट द्वेष की जड़ खोजने पर ज्ञात होता है कि द्वेष का उद्गम गलतफहमी से होता है । ऐसी घटनाएँ कम ही होती हैं, जब किसी ने लोभवश किसी को सताया हो और उसके कारण द्वेष उत्पन्न हुआ हो । द्वेष का प्रधान कारण गलतफहमी होता है । आमतौर से हम उन सबको अपना शत्रु या विरोधी मान लेते हैं जो हमारे विचारों से सहमत नहीं होते, हमारी पसंदगी की गतिविधियाँ नहीं अपनाते । हर आदमी यह सोचता है कि बाकी सब लोग मेरी इच्छानुसार सोचें और करें । यह आकांक्षा बहुत ही गलत अहंकारपूर्ण और नासमझी से भरी हुई है । अपनी समझ से हमारा सोचना और करना हमारे लिए ठीक हो सकता है, पर यह जरूरी नहीं कि बाकी सब लोग भी उसी को ठीक समझें जिसे हम पसंद करते हैं । रुचि भिन्नता और विचार साम्य इस संसार की शोभा और विचित्रता है । यदि नैतिक आदर्शों पर हम सब सहमत हों, तो फिर बाहरी साधारण रुचि भिन्नताएँ हमारे प्रेम भाव में बाधक

न होनी चाहिए । हर आदमी की अपनी मनोभूमि, रुचि, भाव और परिस्थिति होती है । वह उसी आधार पर सोचता, चाह और करता है । हमें इतनी उदारता रखनी ही चाहिए कि य हम दूसरों की भावनाओं का आदर न कर सकें तो कम-से कम उसे सहन तो कर ही लें । असहिष्णुता मनुष्य का ए नैतिक दुर्गुण है, जिसमें अहंकार की गंध आती है । इत दुस्साहस तो परमात्मा भी नहीं करता । उसने शास्त्रों के द्वा अपनी रुचि और इच्छा प्रकट कर दी है कि इस प्रकार व आचरण हमें करना चाहिए । इतने पर भी जो उसकी आ की अवहेलना करते हैं उन्हें वह सहन करता है, तत्काल ही स पर आग बबूला नहीं हो जाता, वरन् सौम्य और शांत वि व्यवस्था से इन अवज्ञाकारियों के सुधार का कार्य धैर्यपूर्व करता रहता है । हम ईश्वर से भी बड़े बनें और हर किसी व अपनी मर्जी का बनाना और चलाना चाहें, तो यह मूर्खता भ बात ही होगी ।

सहिष्णुता और सह-अस्तित्व को मान्यता दें :

यह हो सकता है कि कोई पूर्ण ईमानदार होते हुए अपनी समझ के अनुसार हमारे विचारों से भिन्नता रखे । भास में अनेक देवी-देवता, संप्रदाय, मत-मतांतर, धर्म-ग्रंथ, पूज विधान एवं रीति-रिवाज प्रचलित हैं । इनमें परस्पर के समानता नहीं वरन् कई बार तो प्रतिकूलता दीखती है । इत पर भी यहाँ सदा से विचार स्वातंत्र्य को पसंद किया गया है इस भिन्नता से सत्य की शोध में सहायता ही मिलती है उपयोगिता और वास्तविकता की कसौटी पर जो खरा उतरेगा वही विचार अंततः जीवित रहेगा, शेष को समीक्षा एवं विवे की कसौटी खोटा सिद्ध करके फेंक देगी । इसके लिए धै रखना और प्रतीक्षा करना ही उचित है । पिछले दिनों जोर जबरदस्ती के बल पर मतों को फैलाने का प्रयत्न किया चुका है । यह प्रयत्न सफल तो नहीं हुआ, अपने पीछे एक घृण कटुता और दुःख भरी गाथा ही छोड़ गया है । अब भी कुछ लें

उसी की पुनरावृत्ति करते हैं । तलवार से न सही, गाली-गलौज अथवा अन्य तरीकों से दूसरों को अपना अनुयायी बनाना चाहते हैं । यह असहिष्णुता उचित नहीं । हमें सह-अस्तित्व को मान्यता देनी चाहिए । अपने पक्ष का उचित रीति से समर्थन और प्रचार करें और दूसरों को दबाने या विवश करने की बात न सोचें । विचार परिवर्तन और हृदय परिवर्तन सद्भावना के वातावरण में होना चाहिए । सामाजिक ही नहीं, घरेलू जीवन में भी हमारी रीति-नीति यही रहे ।

हम किसी के सामने कोई प्रस्ताव रखते हैं या कुछ पाने की आशा करते हैं । अपनी समझ या परिस्थिति के अनुसार वह उसे स्वीकार नहीं करता तो यह मान बैठना गलती है कि वह हमारा दुश्मन ही हो गया । भूलवश अनजान में भी कोई व्यक्ति ऐसी बात कह सकता है या ऐसा काम कर सकता है, जो हमें शत्रुतापूर्ण मालूम पड़े, किंतु उसकी दृष्टि से उसका इरादा जरा भी बुरा नहीं । जिस प्रकार हम अपनी सुविधा सोचते हैं, उसी प्रकार दूसरे व्यक्ति भी अपनी सुविधा की दृष्टि से हमारे प्रस्ताव की उपेक्षा कर सकते हैं । इस उपेक्षा को हम शत्रुता क्यों मानें ? हमारी हर इच्छा दूसरों को पूरी कर ही देनी चाहिए । यह मान्यता बचा लेना एक ऐसी गलती है जिसके फलस्वरूप पग-पग पर शत्रुता ही बढ़ती चली जाती है और धीरे-धीरे अपने सब मित्र साथ छोड़ते तथा शत्रु बनते दिखाई देने लगते हैं ।

क्या किया जाए ?

दैनिक जीवन में अपने से भिन्न विचारों को भी सहन करने की आदत डालिए । दूसरों के और आपके विचार अथवा स्वार्थ जहाँ टकराते हों वहाँ टकराने की अपेक्षा समझौते की नीति ही उपयुक्त है । सब कुछ या कुछ नहीं ऐसा सोचना उचित नहीं है । जितना मिले उतना स्वीकार करिए और शेष के लिए प्रयत्नशील बने रहिए । जिस सीमा तक आप अन्य व्यक्तियों से मतैक्य कर सकें, करें और मतैक्य के आधार सुनिश्चित करने

के पश्चात् उन पर जोर दें । उनकी ही चर्चा करें । इस सद्भाव में वृद्धि होगी और मतभेदों में कमी आएगी । जहाँ त हो मतभेदों की चर्चा न करें अथवा यह चर्चा तभी करें जब अ दोनों की मनोभूमि उसे सुनने, समझने और सुधारने की स्थि में हों । समय-कुसमय मतभेदों की ही चर्चा करते रहने से द्वेष दुर्भाव में अभिवृद्धि होती है ।

इस ओर सावधानी बरतें कि आपसे असहमत व्यक्ति को बदनीयत न मान बैठें, उसके हर क्रिया-कलाप में द्वेष दुर्भाव की गंध न सूँघें । इस प्रकार के पूर्वाग्रहपूर्ण व्यवहार सप्रयास बचते रहें । सद्भावना से भी कोई व्यक्ति आप असहमत हो सकता है । यदि किसी का उत्तर आप अपेक्षाओं के अनुरूप न हो, तो इतने मात्र से आप उस अप्रसन्न न हों । इस प्रकार गलतफहमियों से दूरियाँ बढ़ती चली जाएँगी । अतः इससे पहले कि खाई अलंघ्य हो, अ उससे एकांत में जी खोलकर बात कर लें । गलतफहमी द करने का इससे बेहतर और कोई उपाय नहीं है । समाज पिचहत्तर प्रतिशत झगड़े गलतफहमी के कारण होते हैं गलतफहमी जितनी शीघ्र दूर की जा सके, उतना ही अच है । अपने प्रतिपक्षी को महत्त्वहीन अथवा नग्न्य कभी समझें । अरे, वह भला मेरा क्या बिगाड़ लेगा ? ऐसा कभी न सोचिए । आयु, पद, प्रतिष्ठा में आपसे वह कितना भी छो क्यों न हो, आपकी मानसिक शांति तो भंग कर ही देगा अ समझ लीजिए कि शांति की क्षति सबसे बड़ी क्षति होती है द्वेष को पलने मत दीजिए । द्वेष ऐसा विषाणु है जो जब त समूल नष्ट नहीं होगा, तब तक आपके मुखमंडल की सौम्यता वाणी के माधुर्य, व्यवहार की शालीनता एवं कार्य-शैली सहज नहीं होने देगा । अतः द्वेषी नहीं प्रेमी बनने का प्रया करें । आधार दुर्भावना नहीं, स्नेह-सद्भाव हो । इसी में हमा कल्याण है ।

प्रसन्नता सबसे बड़ी औषधि :

जीवन की सफलता के मार्ग में द्वेष यदि विष है तो प्रसन्नता अमृत। प्रसिद्ध चिकित्सा शास्त्री डॉ. सेंपसन के पास एक मरीज लाया गया। उसकी स्थिति काफी गंभीर थी, घर वालों को उसके बचने की कोई उम्मीद नहीं थी। डॉक्टर कोई चिकित्सा करने से पूर्व रोगी के साथ बातचीत करने लग गया। उसने बड़ी दिलचस्पी और मुस्कराहट के साथ रोगी से उसकी स्थिति के बारे में पूछा। डॉक्टर के हास्य, मुस्कराहट भरे व्यवहार से रोगी के चेहरे पर भी मुस्कराहट की रेखाएँ उभर आईं। डॉक्टर सेंपसन ने उपस्थित लोगों से कहा—चिंता की कोई बात नहीं है, रोगी ठीक हो जाएगा, क्योंकि अभी इसमें हँसने की क्षमता शेष है। कुछ समय की चिकित्सा के उपरांत ही वह रोगी भला चंगा हो गया। डॉक्टर सेंपसन रोगी की दवा—दारु एवं चिकित्सा आदि से भी अधिक उसके मनोरंजन, हँसी—खुशी, मुस्कराहटपूर्ण व्यवहार को महत्त्वपूर्ण समझते थे और उनका यह उपाय दवाओं से भी अधिक कारगर सिद्ध होता था।

दार्शनिक बायरन ने लिखा है—जब भी संभव हो सदा हँसो, यह सस्ती दवा है। हँसना मानव जीवन का उज्ज्वल पहलू है। केरीबोर ने लिखा है—हँसी यौवन का आनंद है। हँसी यौवन का सौंदर्य और शृंगार है। जो व्यक्ति इस सौंदर्य और शृंगार को धारण नहीं करता, उसका यौवन भी नहीं ठहरता। स्टर्न ने कहा है, मुझे विश्वास है कि हर बार जब कोई व्यक्ति हँसता है, मुस्कराता है तो वह उसके साथ-साथ ही

[जीवन जीने की कला भाग-२/५७]

अपने जीवन में वृद्धि करता है। डॉक्टर विलियम ने अपने प्रयोगों के आधार पर सिद्ध किया कि ठंडा मार कर हँसने से, सदैव प्रसन्न रहने से मनुष्य का पाचन संस्थान तीव्र होता है, रक्ताणु वृद्धि प्राप्त करते हैं, स्नायु संस्थान ताजा होता है और स्वास्थ्य बढ़ता है।

खिलखिलाकर हँसना और हास्य-विनोद मनुष्य के स्वास्थ्य को ठीक बनाने की अचूक दवा है। शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य के लिए हँसना एक महत्वपूर्ण साधन है। हँसना जीवन का सौरभ है। अपने आप से कोई कलिका जब खिलखिला उठती है तो उसका सौंदर्य देखते ही बनता है। मनहूसों का दिल भी उसकी ओर आकर्षित हो उठता है। जीवन की विभीषिकाओं से दग्ध मनुष्य के लिए भी वे कुछ क्षण नवजीवन के प्रेरणा केंद्र बन जाते हैं। बालसुलभ मुस्कराहट व हँसी-विनोद के संपर्क में आकर निराश, नीरस व्यक्तियों में भी जीवन की स्फुरणा जाग पड़ती है। साथियों के हास्य विनोदमय कहकहों के बीच उस समय मनुष्य अपने दुःख एवं अवसाद की अनुभूतियों को भी विस्मृत कर देता है।

खिलखिलाकर हँसने पर मनुष्य के स्नायविक विस्मृत मानसिक संस्थानों का तनाव आश्चर्यजनक ढंग से दूर हो जाता है। हँसने से नसें व माँस पेशियाँ प्रभावित होती हैं, अपना पाचक रस पर्याप्त रूप से छोड़ती हैं और सक्रिय बन जाती हैं। फेफड़ों में रक्त की गति तेजी से बढ़ जाती है, श्वाँस-प्रश्वाँस की गति भी बढ़ जाती है जिससे शरीर द्वारा आक्सीजन अधिक मात्रा में ग्रहण की जाती है। रक्त की शुद्धि भी तेजी से होने लग जाती है। शरीर में जीवन-तत्त्व सक्रिय होकर स्वास्थ्य को पुष्ट बनाते हैं।

जीवन में आने वाली कठिनाइयों, परेशानियों और समस्या के भार से होने वाले क्लान्ति, खिन्नता एवं मानसिक असंतुलन

हास्य-विनोद के संपर्क में आते ही तिरोहित हो जाते हैं। हास्यप्रधान व्यक्ति जीवन की बड़ी से बड़ी कठिनाई और समस्याओं का सामना भली प्रकार कर सकता है और जीवन संग्राम में हँसी के साथ ही विजय भी प्राप्त कर सकता है।

कठिनाइयों से रहित मनोवाँछित परिस्थितियों और प्रियजनों से घिरा जीवन आज तक किसी का भी नहीं हुआ है। भविष्य में कोई सर्वांगीण सुविधासंपन्न मनुष्य इस संसार में जन्म ले सकेगा, ऐसी आशा नहीं की जा सकती है। भगवान के अवतार कहे जाने वाले राम, कृष्ण तक की जो दुर्दशा हुई, वह सामान्य मनुष्य से अच्छी नहीं रही। दूसरे अवतार, ऋषि, महापुरुष, ज्ञानी-विज्ञानी भी कठिनाइयों से घिरे और विपत्तियाँ सहन करते रहे हैं। महापुरुषों की महानता इसी आधार पर परखी जाती है कि उनने आदर्श और सुविधा में किसे चुना और अपनी चरित्रनिष्ठा को कितनी कठिनाइयों पर कसे जाने के लिए कितनी प्रसन्नतापूर्वक प्रस्तुत किया।

विपत्ति को टालने अथवा हलका करने का सबसे सस्ता और सबसे हलका नुस्खा यह है कि कठिनाई को हलकी माना जाए। सही एवं भरपूर प्रयत्न करना ऐसी ही मनःस्थिति में संभव हो सकता है। लड़खड़ाता हुआ चिंतन तो और भी अधिक गहरे दलदल में फँसा देता है। उज्ज्वल भविष्य की आशा छोड़ दी जाए, तो फिर चारों ओर अंधकार ही अंधकार दिखाई देगा और हलकी सी कठिनाई को पार करना भी पहाड़ उठाने जैसा भारी मालूम पड़ेगा।

सुखद प्रसंगों का बार-बार स्मरण करें :

हलकी-फुलकी, हर्षोल्लास, संतोष एवं आनंद से जिंदगी जीने की योजना बनानी चाहिए और इस मार्ग में जो अवरोध हों, उन्हें चुन-चुन कर मार्ग से हटाना चाहिए। विचार करने पर जो व्यक्ति अपने को अभावग्रस्त, कठिनाइयों से घिरा हुआ, विरोधी

दुर्जनों के बीच रहता हुआ, भविष्य में विपत्ति की संभावनाओं से जकड़ा अनुभव करेंगे तो उसका जी सदा खिन्न, उद्विग्न रहेगा। चिंतन की इस निषेधात्मक धारा को विवेकपूर्ण पर्यवेक्षण से बहुत कुछ हलका किया जा सकता है। भविष्य में क्या होना है ? किसी को पता नहीं, यदि यह सही बात है तो विपत्ति की आशंका करने की अपेक्षा उज्ज्वल भविष्य की कल्पना क्यों न की जाए और निराशा के स्थान पर आशा को क्यों न अपनाया जाए ? साथियों के दोष ही दोष क्यों देखें जाएँ ? उनमें जो गुण हैं, उन्हें क्यों न समझें ? उनके द्वारा जो क्षति हुई है, उसी पर क्यों विचार करते रहें ? जो सहयोग, सद्भाव वे देते रहे हैं, उन सुखद प्रसंगों का स्मरण क्यों न किया जाए ? स्वजनों के दोष-दुर्गुणों को देखना, सुधारना उचित है, पर वह कार्य डॉक्टर और रोगी की, वयस्क और बालक की भावना के साथ उदारतापूर्वक और बिना खीजे भी किया जा सकता है।

अप्रिय प्रसंग हर किसी के जीवन में कभी न कभी घटित हुए ही होते हैं। यदि उन्हें दूँढ़ कर एकत्रित किया जाए और उन्हीं को स्मरण करते रहा जाए तो लगेगा कि सारी जिंदगी दुःख-कष्ट सहते-सहते असफल बीत गई। इसके विपरीत यदि सुखद प्रसंगों को दूँढ़ा जाए तो वे भी इतने अधिक दिखाई पड़ेंगे, जिनके आधार पर सुखी जीवन जी लेने पर गर्व किया जा सके। एक स्मृति दुःखी बनाती है और दूसरी के कारण होंठ पर मुस्कान दौड़ने लगती है। दोनों में जिसका भी चुनाव करन हो प्रसन्नतापूर्वक किया जा सकता है। हँसी-खुशी का हलका-फुलका जीवन शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक एवं आर्थिक सभी पक्षों को प्रभावित करता है और सुखद संभावनाएँ विनिर्मित करने में भारी योगदान देता है। वह कठिन नहीं अति सरल है। चिंतन में थोड़ा हेर-फेर करके हम खिन्न, उद्विग्न जीवन को हँसता-हँसाता बनाने में अभीष्ट सफलता प्राप्त कर सकते हैं।

खिलाड़ी की तरह जिँ :

हलकी-फुलकी जिंदगी जीने वाले ही शांति से रहते और चैन संतोष से दिन काटते हैं। जीवन को एक खेल जैसा माना जाना चाहिए और उसे हार-जीत की परवाह किए बिना, विनोद-मनोरंजन के लिए उसमें प्रवीणता पाने के लिए खेला जाना चाहिए। नाटक के अभिनेता जैसा दृष्टिकोण भी सही है। कभी राजा, कभी रंक बनने में पाल को न कोई संकोच लगता है और न असमंजस होता है। अपनी निजी हैसियत और प्रदर्शन की खोखली वास्तविकता को समझता है। इसलिए सिंहासन हार जाने और मुकुट उतर जाने पर भी चेहरे पर मलीनता नहीं आने देता। रात को चादर तानकर गहरी नींद सोता है। वैसी ही मनःस्थिति अपनी भी होनी चाहिए। दिन में क्या किया ? कितना सोचा था, कितना पूरा हो सका, कल के लिए क्या जीवन-क्रम निर्धारित किया है, इतना पर्यवेक्षण तो सोने से पूर्व अवश्य कर लिया जाए, परंतु विगत की घटनाओं, दिन में किसी के द्वारा अपने साथ किए गए दुर्व्यवहार के चिंतन, बदला आदि लेने के विचार सोते समय मन में कतई न आने दिए जाएँ। मन हलका रहे। कोई घटना घटी भी है, इसकी छाया माल भी मस्तिष्क पटल पर आने न दी जाए, यही सच्ची जीवन-यापन शैली है। तनाव रहित मन तुरंत निद्रा देवी का आह्वान करता है। ऐसी हलकी-फुलकी जिंदगी ही निरोग काया की जन्मदात्री बनती है। मन को साधकर अनुकूल दिशा में मोड़ लेना ही सच्चे अर्थों में जिंदगी जीना है।

धन प्रसन्नता का कारण नहीं :

प्रसन्नता धन के कारण नहीं मिलती है। यदि ऐसा होता तो धनवान ही प्रसन्न रहते, पर स्थिति इसके विपरीत है। धनी व्यक्ति का जीवन जितना चिंतापूर्ण रहता है उतना निर्धन का नहीं। निर्धन का दृष्टिकोण यदि थोड़ा भी परिवर्तित हो जाए तो

[जीवन जीने की कला भाग-२/६१]

वह किसी धनी से भी अधिक प्रसन्न रह सकता है। अपने से ब को देखकर उन जैसे वैभव की अभिलाषा जगाना भी अनुपयु है। इस संसार में एक से बढ़कर एक बड़े लोग पड़े हैं। किस से तुलना की जाए और किस-किस की समता : मनोरथ किया जाए ? तुलना ही करनी हो तो अपनी से छो के साथ करनी चाहिए और अनुभव करना चाहिए कि अपने : अपेक्षाकृत कितना अधिक सौभाग्य मिला हुआ है। अप दरिद्रों, अशिक्षितों, रोगियों, असहायों की तुलना में जब अप स्थिति कहीं अधिक अच्छी है तो उस पर संतोष व्यक्त करने क्या हर्ज है ? ऐसे भी असंख्य हो सकते हैं जो उसके लिए तरसते हों जो अपने हिस्से में आया है। जिसे दोनों समय भोग मिल जाता है, अपने पैरों खड़े रहने का अवसर है, उसे संत की साँस लेनी चाहिए और भगवान को हजार बार धन्यव देना चाहिए, कृतज्ञता व्यक्त करनी चाहिए।

औसत भारतीय स्तर का निर्वाह जिन्हें पर्याप्त लगता वे ईश्वर चंद्र विद्यासागर की तरह न्यूनतम निर्वाह में क चलाते और अपनी कमाई का अधिकांश भाग परमार्थ में लग रहते हैं। ऐसों को यह पश्चाताप करते नहीं देखा गया कि गरीबी में दिन गुजारते हैं। गरीबी ब्राह्मण की शान है। गाँ जी प्राचीनकाल के संतों की तरह अपरिग्रही जीवन जीते थे जनक हल चलाकर पेट भरते थे। इससे उनकी गरिमा घ नहीं। भर्त्सना के भाजन तो लालची होते हैं। जो पेट भर रहने पर भी अधिक की रट लगाए रहते हैं और उसे बटोरने लिए अनीति अपनाने का बड़े से बड़ा कुकर्म करने तक से न चूकते।

प्रसन्नता एक मानसिक टॉनिक :

प्रसन्नता का स्वभाव बना लेना उत्साह, संतुलन अ साहस का अभ्यास बढ़ा लेने जैसा है। यह एक मानसि

टॉनिक है, जिससे निरंतर नई शक्ति उभरती रहती है । ऐसे स्वभाव वाले सदा अधिक मात्रा में अधिक अच्छे स्तर का काम करने और सफलताएँ अर्जित करने में अग्रणी रहते हैं । हँसता व्यक्ति दूसरे को हँसाते रहने में समर्थ होता है । सुगंधित वस्तुओं की समीपवर्ती वस्तुएँ भी सुगंधित हो जाती हैं । आग की गर्मी अपने आस-पास के पदार्थों को भी गरम कर देती है । ठीक उसी प्रकार निराशा, खीझ, उदासीनता जहाँ दूसरों को दूर रहने को धकेलती है, वहीं प्रसन्नता की अभिव्यक्ति करने वाले छोटे से छोटे कार्य भी दूसरों पर अपना उत्साहवर्धक प्रभाव छोड़ते हैं । प्रसन्न किए गए व्यक्ति का संचित मनोमालिन्य नष्ट हो जाता है । कभी कोई बुरी मान्यता बन गई हो तो वह भी बात की बात में समाप्त हो जाती है । सुरभित वातावरण बनाने का सही और सीधा तरीका यह है कि प्रसन्नता, संतोष उत्साह, उल्लास की मनःस्थिति बनाए रहने का परिपूर्ण प्रयत्न किया जाए । इस प्रसाद को उन सब में भी बाँटा जाए, जो अच्छे हों, उनकी चर्चा करके अगले दिनों और भी प्रगतिशील कदम उठाने के लिए प्रोत्साहित किया जाए । भविष्य के आशाजनक होने की संभावना व्यक्त करते हुए नई आशा और उमंग जगाने का प्रयत्न किया जाए । हँसते रहने की आदत अपने आप को अधिक सुंदर, आकर्षक एवं समर्थ सिद्ध करने का अच्छा उपाय है । इसे अपनाने वाले अधिक कार्यरत रहने, आगे बढ़ने, ऊँचे उठने का अवसर प्राप्त करते हैं । दूसरों को भी वे अपने साथ आगे घसीट ले जाते हैं । उसके विपरीत निराश रहने वाले, बूढ़ों जैसी उदासी लादे रहने वाले सदैव अनाकर्षक, उपेक्षित और असफल प्रतीत होते रहते हैं । शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को अक्षुण्ण बनाए रहने के लिए मुस्कराते रहने की आदत एक अच्छे खासे टॉनिक का काम देती है । ऐसे बिना कुछ खर्च किए मिलने वाली रसायन का लाभ हर किसी को उठाना चाहिए ।

क्या किया जाए ?

सफलता—असफलता सबके जीवन में आती है । स्थिति में आप जीवन को खेल के रूप में मानिए । हार—को खेल—भावना से स्वीकार करते हुए हर स्थिति में प्र रहने का प्रयास करिए । है तो यह कठिन कार्य पर असफल पर मुँह लटका कर बैठने के स्थान पर चिंतन करिए असफलता क्यों मिली ? आपके संकल्प, नियोजन एवं पुरु में किस स्तर पर कमी रही ? खिले फूल की तरह प्रफुलि रहेंगे तो आपके मित्र, संतान, पत्नी सभी आपके पास बै चाहेंगे । मुरझाए रहेंगे तो कोई अकारण आपके पास फटके भी नहीं । आपका चिड़चिड़ा स्वभाव अपनों को भी पराया देगा । अतः जीवन की निराशाजनक घटनाओं के बजाय प्रसंगों को बार—बार याद करें और सुनाएँ, जिनसे उल्ल मिले । आप कितने भी व्यस्त हों, अपनी जीवन—सहचरी साथ, अपने बच्चों, नाती, पोतों के साथ हँसना, खिलखिल न भूलें ।

**जो आदर्श के मार्ग पर चलने का
कष्टकर जीवन स्वेच्छा से वरण करते हैं,
वे न केवल स्वयं ऊँचे उठते हैं, वरन्
मनुष्यता का स्तर ऊँचा उठाते हैं ।**